

वैदिक ग्रन्थ अङ्क ५ ।

ओ३म् ॥ JT 1319

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥
अथर्व० का० १९ सू० ६२ ।

प्रिय मोहि करो देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सारे दृष्टि वाले, श्री शूद्र और अर्य में ॥ १ ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

द्वितीयं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद–भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरण–निरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना
निर्मितम् प्रकाशितञ्च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sūdra and to Āryan man.
Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1.

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ, १००० पुस्तकानि । } संवत् १९७० वि० । सन् १९१३ ई० । } मूल्यम् १।-)

पता–पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad) ॥

अथर्ववेदभाष्य-सम्मतियां।

श्रीमान् परिडत **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १६१३।

...ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १६१३।

...श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं,...मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द की शैली के अनुसार, भावपूर्ण, संक्षिप्त, और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका, देखने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्य समाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है। ईश्वर उन को बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें, निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है।...

श्रीयुत महात्मा **मुंशीराम जी** जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६६६।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं, आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ॥

(टैटिल पेज पृष्ठ ३ देखिये)

ओ३म्।

आनन्द समाचार।

[आप देखिये और अपने मित्रो को भी दिखाइये।]

अथर्ववेदभाष्यम्—ब्रह्मा जी से लेकर सब बड़े २ ऋषि, मुनि, और योगी जिन वेदों का महत्व गाते आये हैं, और विदेशीय विद्वान् भी जिन की महिमा और अर्थ खोजने में लग रहे हैं, वे अब तक संस्कृत में होनेके कारण बड़े कठिन समझे जाते थे, और कुछ विद्वानों को छोड़ सर्वसाधारण उन का अर्थ नहीं समझ सकते थे। ईश्वर के अनुग्रह से इस समय तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद का भाषा में अर्थ हो चुका है, और लोगों को उन के मर्म जानने का सौभाग्य मिला है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, जो लोगों को बहुत खटक रहा था। बड़ा हर्ष है कि इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी सरल भाषा और संस्कृत में वेद, निघण्टु निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से भाष्य बनाने में परिश्रम कर रहे हैं।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, पूरे एक एक काण्ड का भावपूर्ण, संक्षिप्त, स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल भाषा और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। पूरे भाष्य के स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जनों को नियत मूल्य में से २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक वी० पी० द्वारा, वा नगद मूल्य पर दिये जाते हैं। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे महाराजे, सेठ साहूकार, और विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य को मंगावें, और जगत्पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति से कीर्त्तिमान् होवें।

भाष्य की छपाई उत्तम और काग़ज़ बढ़िया रायल अठपेजी है, और क्रम इस प्रकार है, १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्र के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूपपाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण, निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

	मूल्य	स्थायी ग्राहकों से
काण्ड १—छप गया, भूमिका सहित, पृष्ठ २०२,	१।)	१)
काण्ड २—छप गया, पृष्ठ २१२	१।-)	१-)
काण्ड ३—शीघ्र प्रकाशित होगा।		

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण, हवनमन्त्र, वामदेवगान-सरल भाषा में शब्दार्थ सहित, संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।) ॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेज़ी में, बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८, मूल्य ।≈)

२५ अगस्त १९२१।

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी,
५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)।

१—सूक्त विवरण, काण्ड २ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	वेनस्तत् पश्यत्	ब्रह्म	ब्रह्म प्राप्ति	त्रिष्टुप्
२	दिव्यो गन्धर्वो	गन्धर्वअप्सरा	ईश्वर सर्व-शक्तिमान्	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
३	अदो यदवधावत्य-	भेषज	रोग निवृत्ति	अनुष्टुप्
४	दीर्घायुत्वाय बृहते	जङ्गिड	आयु वृद्धि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
५	इन्द्र जुषस्व प्र वहा	इन्द्र	उन्नति प्रयत्न	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
६	समास्त्वा ऋतवो	अग्नि	राजनीति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
७	अघद्विष्टा	ईश्वर	राजधर्म	अनुष्टुप्
८	उदगातां भगवती	ब्रह्म	पौरुष	अनुष्टुप्
९	दशवृत्त मुञ्चेमं	ईश्वर	आत्मोन्नति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१०	क्षेत्रियात् त्वा	ब्रह्म	मुक्ति प्राप्ति	त्रिष्टुप्, जगती
११	दूष्या दूषिरसि	पुरुष	पुरुषार्थ	गायत्री
१२	द्यावापृथिवी उर्व	विश्वे देवाः	सर्वरक्षा	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१३	आयुर्दा अग्ने जरसं	ब्रह्मचारी	समावर्त्तनवस्त्र	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१४	निः सालां धृष्णुं	अलक्ष्मी	निर्धनता का नाश	अनुष्टुप्
१५	यथा द्यौश्च पृथिवी	प्राण	धर्म का पालन	गायत्री
१६	प्राणापानौ मृत्योर्मा	आत्मा	आत्मरक्षा	पङ्क्ति,गायत्रीआदि
१७	ओजोऽस्योजो मे	ईश्वर	आयु वृद्धि	त्रिष्टुप्, उष्णिक्
१८	भ्रातृव्यक्षयणमसि	ईश्वर	शत्रु से रक्षा	साम्नी बृहती
१९	अग्ने यत्ते तपस्तेन	अग्नि	कुप्रयोगत्याग	त्रिष्टुप्, जगती
२०	वायो यत्ते तपस्तेन	वायु	” ”	” ”
२१	सूर्य यत्ते तपस्तेन	सूर्य	” ”	” ”
२२	चन्द्र यत्ते तपस्तेन	चन्द्र	” ”	” ”
२३	आपो यद् वस्तपस्तेन	आपः (जल)	” ”	” ”
२४	शेभरक शेरभ	ईश्वर	कुसंस्कारादि त्याग	त्रिष्टुप् आदि
२५	शं नो देवी पृश्नि-	पृश्निपर्णी	शत्रुओं का नाश	अनुष्टुप्

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
२६	एह यन्तु पशवो	त्वष्टा सवितादयः	मेल करना	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
२७	नेच्छत्रुः प्राशं जयाति	ओषधि, इन्द्र	बुद्धि से विवाद	अनुष्टुप्
२८	तुभ्यमेव जरिमन्	अग्नि	आयु बढ़ाना	त्रिष्टुप्
२९	पार्थिवस्य रसे देवा	बृहस्पति, इन्द्र	उन्नति करना	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
३०	यथेदंभूम्या अधि	अश्विनौ	गृहस्थाश्रम प्रवेश	पङ्क्ति, त्रिष्टुप्
३१	इन्द्रस्य या मही दृषत्	इन्द्र	दोष नाश	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
३२	उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्	आदित्य	तथा	गायत्री, अनुष्टुप्
३३	अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां	आत्मा	शरीररक्षा	अनुष्टुप् पङ्क्ति
३४	य ईशे पशुपतिः पशूनां	पशुपति	बन्ध से मुक्ति	त्रिष्टुप्
३५	ये भक्षयन्तो न वसू-	विश्वकर्मा	पाप त्याग	त्रिष्टुप्
३६	आ नो अग्ने सुमतिं	अग्नि	विवाहसंस्कार	त्रिष्टुप्, आदि

२-अथर्ववेद, काण्ड २ के मन्त्र अन्य वेदों में संपूर्ण वा कुछ भेद से ॥

संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड २) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मंडल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१-२	वेनस्तत् पश्यत्-इत्यादि	१।१—२	—	३२।८-९	
३	स नः पिता जनिता	१।३	१०।८२।३	१७।२७	
४	परि विश्वा भुवनान्या	१।५	—	३२।१०	
५-७	इन्द्र जुषस्व प्र वह-इत्यादि	५।१-३	—	—	उ० ३।१।२२
८-१०	इन्द्रस्य नु प्रवोचं-इत्यादि	५।५-७	१।३२।१-३	—	
११-१३	समास्त्वाग्न-इत्यादि	६।१-३	—	२७।१-३	
१४-१५	क्षत्रेणाग्ने स्वेन-इत्यादि	६।४-५	—	२७।५-६	
१६	अतीव यो मरुतो	१२।६	६।५२।२	—	
१७-१९	ओजोऽस्योजो-इत्यादि	१७।१-७	—	१९।९	
२०-२६	अक्षीभ्यां ते-इत्यादि	३३।१-७	१०।१६३।१-६	—	

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

द्वितीयं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् १ ।

मन्त्राः १—५ । ब्रह्म देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेशः—ब्रह्म के मिलने का उपदेश ।

वेनस्तत् पंश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥१॥

वेनः । तत् । पश्यत् । परमम् । गुहा । यत् । यत्र । विश्वम् । भवति । एक-रूपम् । इदम् । पृश्निः । अदुहत् । जायमानाः । स्वः-विदः । अभि । अनूषत । व्राः ॥ १ ॥

सान्वयभाषार्थ—(वेनः) बुद्धिमान् पुरुष (तत्) उस (परमम्) अति श्रेष्ठ परब्रह्म को (पश्यत्=०—ति) देखता है, (यत्) जो ब्रह्म (गुहा=गुहायाम्) गुफा के भीतर [वर्त्तमान है], और (यत्र) जिसमें (विश्वम्) सब जगत्

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—वेनः । धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति अज गतिक्षेपणयोः—नप्रत्ययः, वीभावः । यद्वा, वेनति कान्ति-

(एकरूपम्) एक रूप [निरन्तर व्याप्त] (भवति) वर्त्तमान है। (इदम्) इस परम ऐश्वर्य के कारण [ब्रह्मदान] को (पृश्निः) [ईश्वर से] स्पर्श रखने वाले मनुष्य ने (जायमानाः) उत्पन्न होती हुयी अनेक रचनाओं से (अदुहत्) दुहा है, और (स्वर्विदः) सुखस्वरूप वा आदित्यवर्ण ब्रह्म के जानने वाले (व्राः) वरणीय विद्वानों ने [उस ब्रह्म की] (अभि) विविध प्रकार से (अनूषत) स्तुति की है ॥ १ ॥

भावार्थ—वह परम ब्रह्म सूक्ष्म तो ऐसा है कि वह (गुहा) हृदय आदि प्रत्येक सूक्ष्म स्थान का अन्तर्यामी है, और स्थूल भी ऐसा है कि संपूर्ण ब्रह्मांड उसके भीतर समा रहा है। धीर ध्यानी महात्मा उस जगदीश्वर की अनन्त रचनाओं से विज्ञान और उपकार प्राप्त करके मुक्त कण्ठ से आत्मसमर्पण करते हुये उसकी स्तुति करते और ब्रह्मानन्द में मग्न रहते हैं ॥ १ ॥

देखिये—यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र ८।

वे॒नस्तत् प॑श्य॒न्निहि॑तं॒ गुहा॒ सद्यत्र॒ विश्वं॒ भव॒त्येक॑नी-ड॒म्। तस्मि॑न्नि॒दꣳ सं च॒ वि चै॑ति॒ सर्व॒ꣳ स ओतः॒ प्रोत॑श्च वि॒भूः प्र॒जासु॑ ॥ १ ॥

(वेनः) पण्डित जन (तत्) उस (गुहा) बुद्धि वा गुप्त कारण में (निहितम्) वर्त्तमान (सत्) नित्यस्वरूप ब्रह्म को (पश्यत्=०—ति) देखता है, (यत्र) जिस ब्रह्म में (विश्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रय वाला (भवति) होता है। (च) और (तस्मिन्) उसमें (इदम्) यह (सर्वम्) सब जगत् (सम्)

कर्मा-निघ० २। ६। ततः। पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण पा० ३। ३। ११८। इति घ प्रत्ययः। वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः-इति यास्कः, निरु० १०। ३८। गतिमान्। दीप्यमानः। मेधावी-निघ० ३। १५। **पश्यत्**। इकारलोपः। पश्यति, साक्षात्करोति। **परमम्**। अ० १। १३। ३। पर+मा माने-क। उत्कृष्टम्। **गुहा**। अ० १। ८। ४। गुहायाम्। गुप्तस्थाने। **यत्र**। यस्मिन् सर्वाधिष्ठाने ब्रह्मणि। **विश्वम्**। अ० १। १। १। सर्वं जगत्। **एकरूपम्**। इण् भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्। उ० ३। ४३। इति इण् गतौ-कन्' एति प्राप्नोतीत्येकम्। रूयते कीर्त्यते तद्रूपम्। अ० १। १। १। सर्वथा, निरन्तरं व्याप्तम्। **इदम्**। इन्देः कमिन्नलोपश्च। उ० ४। १५७। इति इदि परमैश्वर्ये-कमिन्। नकारलोपः।

मिलकर (च) और (वि) अलग अलग होकर (एति) चेष्टा करता है, (सः) वह (विभूः) सर्वव्यापक परमात्मा (प्रजासु) प्रजाओं में [वस्त्र में सूत के समान] (ओतः) ताना किये हुये (च) और (प्रोतः) बाना किये हुये है ॥

प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥ २ ॥

प्र । तत् । वोचेत् । अमृतस्य । विद्वान् । गन्धर्वः । धाम । परमम् । गुहा । यत् । त्रीणि । पदानि । नि-हिता । गुहा । अस्य । यः । तानि । वेद । सः । पितुः । पिता । असत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विद्वान्) विद्वान् (गन्धर्वः) विद्या का धारण करने वाला

इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति इदम् । प्रत्यक्षज्ञानम् । **पृश्निः** । घृणिपृश्नि-पार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । इति स्पृश स्पर्शे-निप्रत्ययः, सलोपः । स्पृशति, योगेन ब्रह्म प्राप्नोतीति पृश्निः । समाधिस्थयोगी पुरुषः ।पृश्निरादित्यो भवति प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः संस्प्रष्टा रसान् संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां संस्पृष्टो भासेति वा-निरु० २ । १४ । इति यास्कवचनाद् योगैश्वर्येण सूर्यवत् प्रकाशमानः पुरुषः । **अदुहत्** । दुह प्रपूरणे-लुङ्, छान्दसो अङ् । आकृष्टवान्, प्राप्तवान् । द्विकर्मकत्वात् (इदम्) इति (जायमानाः) इति शब्दस्य च कर्मकत्वम् । **जायमानाः** । जनी जनने, प्रादुर्भावे-शानच् । उत्पद्यमानाः प्रजाः । **स्वर्विदः** । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति स्वृ शब्दोपतापयोः—विच् । यद्वा सु+ऋ गतौ, ईर गतौ वा-विच् । स्वरादित्यो भवति सु अरणः सु ईरणः स्वृतो रसान् स्वृतो भासं ज्योतिषां स्वृतो भासेति वा—निरु० २ । १४ । ततो विद ज्ञाने-क्विप् । स्वः शब्दाभिधेयं सुखस्वरूपम् आदित्यवर्णं वा परब्रह्म विदन्ति जानन्तीति स्वर्विदः परब्रह्मज्ञातारः । **अभि** । आभिमुख्येन, सर्वतः । **अनूषत** । णू स्तवने-लुङ्, छान्दसम् आत्मनेपदम् । स्तुतवन्तः । **व्राः** । गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति वृञ् वरणे-बाहुलकात् कः, यणादेशः, जस् । स्वशोभनगुणैर्व्रियमाणाः संभज्यमानाः स्वीक्रियमाणाः पुरुषाः । यद्वा । ब्रह्मणो वरितारो अन्वेष्टारः ॥

२—**वोचेत्** । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि आशीर्लिङि वच्यादेशे । लिङ्याशिष्यङ् ।

पुरुष (अमृतस्य) अविनाशी ब्रह्म के (तत्) उस (परमम्) सब से ऊंचे (धाम) पद का (प्र वोचत्) उपदेश करे (यत्) जो पद (गुहा = गुहायाम्) गुफा [प्रत्येक अगम्य पदार्थ हृदय आदि] के भीतर है। (अस्य) इस [ब्रह्म] की (गुहा) गुफा [अगम्य शक्ति] में (त्रीणि) तीनों (पदानि) पद (निहिता = ०-तानि) ठहरे हुये हैं, (यः) जो [विद्वान् पुरुष] (तानि) उनको (वेद) जान-लेता है, (सः) वह (पितुः) पिता का (पिता) पिता (असत्) हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् महात्मा पुरुष उस परब्रह्म की महिमा का सदा उपदेश करते रहते हैं। वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। उसके ही वश में तीन पद, अर्थात् संसार की सृष्टि, स्थिति और नाश यह तीनों अव-

---

पा० ३। १। ८६। इति अङ् प्रत्ययः। वच उम्। पा० ७। ४। २०। इति उम् आगमः। उच्यात्। उपदिशेत्। व्यवहिताश्च। पा० १। ४। ८२। इति (प्र) उप-सर्गस्य क्रियया संबन्धः। **अमृतस्य**। नञिमृङ्भ्यां किच्च। उ० ३। ८८। इति अ+मृङ् प्राणत्यागे-तन्, स च कित्। मरणरहितस्य। अविनाशिनः परब्रह्मणः। **विद्वान्**। वेत्तीति। विद ज्ञाने-शतृ। विदेः शतुर्वसुः। पा० ७। १। ३६। इति शतुर्वसुरादेशः। आत्मवित्। प्राज्ञः। पण्डितः। **गन्धर्वः**। गां वाणीं पृथिवीं गतिं वा धरति धारयति वा सः। कृगृशॄदृभ्यो वः। उ० १। १५५। इति गो+ धृञ् धारणे-व प्रत्ययः, पृषोदरादित्वा गोशब्दस्य गमादेशः। वेदवाणी-धारकः। वेदवेत्ता। स्वर्गगायकः। सूर्यः। घोटकः। **धाम**। अ० १। १३। ३। स्थानम्। प्रभावम्। **त्रीणि**। तरतेड्रिः। उ० ५। ६६। सृष्टिस्थितिप्रलयादि-रूपाणि। **पदानि**। पद्यन्ते गम्यन्ते प्राणिभिः। पद गतौ-अच्। कर्माणि। वस्तूनि। **निहिता**। दधातेर्हिः। पा० ७। ४। ४२। इति नि+डुधाञ् धारणपोषणयोः-क्त। हिरादेशः। शेश्छन्दसि बहुलम्। पा० ६। १। ७०। इति शिलोपः। निहितानि। स्थापितानि, स्थितानि। **वेद**। विद ज्ञाने। विदो लटो वा। पा० ३। ४। ८३। इति तिपो णल् आदेशः। वेत्ति। जानाति। साक्षात्करोति। **पितुः पिता**। नप्तृनेष्टृ०होतृ०। उ० २। ६५। इति पा रक्षणे-तृच्। निपातनात् साधुः। ज्ञानप्रदानेन रक्षकस्यापि रक्षकः। महाविद्वान्। **असत्**। अस सत्तायां- लेट्, अडागमः। भूयात् ॥

स्थायें, अथवा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान्, तीनों काल, अथवा सत्त्व, रज और तम, तीनों गुण वर्त्तमान हैं। जिस महापुरुष योगी को इन अवस्थाओं का विज्ञान व्यष्टि और समष्टि रूप से होता है; वह पिता का पिता अर्थात् महाविज्ञानियों में महाविज्ञानी होता है ॥ २ ॥

१—यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३२। म० ६।

२—मनु महाराज ने कहा है—अ० २। १५३।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१॥

अज्ञानी ही बालक होता है, वेदोपदेष्टा पिता होता है। [मुनि लोग] अज्ञानी को ही बालक, और वेदोपदेष्टा को ही पिता कहते हैं ॥ १ ॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

सः। नः। पिता। जनिता। सः। उत। बन्धुः। धामानि। वेद। भुवनानि। विश्वा। यः। देवानाम्। नामधः। एकः। एव। तम्। सम्-प्रश्नम्। भुवना। यन्ति। सर्वा ॥३॥

भाषार्थ—(सः) वही [ईश्वर] (नः) हमारा (पिता) पालक और (जनिता) जनक, (उत) और (सः) वही (बन्धुः) बान्धव है, वह (विश्वा = विश्वानि) सब (धामानि) पदों [अवस्थाओं] और (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है। (यः)

३—पिता। म० २ पालयिता। जनिता। जनी जनने-णिचि तृच्। जनिता मन्त्रे। पा० ६। ४। ५३। इति तृचि णिलोपो निपात्यते। जनयिता। उत्पादकः। बन्धुः। शृस्वृस्निहि०। उ० १। १०। इति बन्ध बन्धने उप्रत्ययः, स च नित्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १९७। इति नित्त्वाद् आद्युदात्तः, प्रेम्णा बध्नातीति। बान्धवः। धामानि। म० २। धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति-निरु० ६। २८ जन्मस्थाननामानि। वेद। म० १। वेत्ति।

जो [परमेश्वर] (एकः) अकेला (एव) ही (देवानाम्) दिव्य गुण वाले पदार्थों का (नामधः) नाम रखने वाला है, (सम्प्रश्नम्) यथाविधि पूंछने योग्य (तम्) उस को (सर्वा=सर्वाणि) सब (भुवना=०—नानि) प्राणी (यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर संसार का माता, पिता, बन्धु और सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है, वही पिता के समान सृष्टि के पदार्थों का नामकरण संस्कार करता है, जैसे, सूर्य, पृथिवी, मनुष्य, गौ, घोड़ा आदि। विद्वान् लोग सत्संग करके उस जगदीश्वर को पाते और आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

(नामधः) के स्थान पर सायणभाष्य, ऋग्वेद और यजुर्वेद में [नामधाः] है।

२—यह मन्त्र ऋ० १० । ८२ । ३ । तथा य० । १७ । २७ । में कुछ भेद से है।

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः ॥४॥

परि । द्यावापृथिवी इति । सद्यः । आयम् । उप । आ-तिष्ठे । प्रथम-जाम् । ऋतस्य । वाचम्-इव । वक्तरि । भुवने-स्थाः । धास्युः । एषः । ननु । एषः । अग्निः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सद्यः) अभी (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी लोक में (परि=परीत्य) घूमता हुआ (आयम्) मैं [प्राणी] आया हूं (ऋतस्य) सत्य

भुवनानि । भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि । उ० २ । ८० । इति भू सत्तायाम्—क्युन् । सर्वपदार्थाधिकरणानि । लोकान् । **देवानाम्** । दिवु पचाद्यच् पृथिव्यादिदिव्यपदार्थानाम् । **नामधः** । नाम+धाञ् धारणे—क । नामकरणकर्ता, नामधारकः । **एकः** । इण् गतौ–कन् । अद्वितीयः । असहायः । **सम्प्रश्नम्** । सम्यक् पृच्छन्ति यस्मिँस्तम् । परमात्मानम् । यथाविधि प्रश्नीयम् । अन्वेषणीयम् । **भुवना** । भुवनानि । लोकाः । **यन्ति** । इण् गतौ–लट् । गच्छन्ति, प्राप्नुवन्ति । लभन्ते ॥

४—**द्यावापृथिवी** । दिवो द्यावा । पा० ६ । ३ । २९ । इति दिव् शब्दस्य द्यावा इत्यादेशो । देवताद्वन्द्वे । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । २ । १४१ । इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । द्यौश्च

नियम के (प्रथमजाम्) पहिले से उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] को (उप+आ–तिष्ठे) मैं प्राप्त होता हूं, (इव) जैसे [श्रोता गण] (वक्तरि) वक्ता में [वर्त्तमान] (वाचम्) वाणी को [प्राप्त होते हैं]। (भुवनेष्ठाः) सम्पूर्ण जगत् में स्थित (एषः) यह परमेश्वर (धास्युः) पोषण करने वाला, और (ननु) अवश्य करके (एषः) यह (अग्निः) अग्नि [सदृश उपकारी वा व्यापक परमात्मा] है ॥ ४ ॥

भावार्थ—तत्त्ववेत्ता पुरुष सूर्य और पृथिवी आदि प्रत्येक कार्यरूप पदार्थ के आकर्षण, धारणादि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा को साक्षात् करता है, जैसे श्रोता लोग वक्ता के बोलने पर उसकी वाणी के अभिप्राय को अपने आत्मा में ग्रहण करते हैं। वही ईश्वर वेद रूप सत्य नियम को सृष्टि के पहिले प्रकट करता, और सब जगत् का धारण और पोषण करता रहता है, जैसे सूर्य का ताप अन्न आदि को परिपक्व करके, और जाठर अग्नि भोजन को पचा कर, और उससे रुधिर आदि को उत्पन्न करके शरीर को पुष्ट करता है ॥ ४ ॥

पातंजल योगदर्शन में वर्णन है—पाद ३ सूत्र २५।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥

सूर्य में संयम से लोकों का ज्ञान [योगी को] होता है। अर्थात् वह सूर्य को केन्द्र मान कर सूर्य से लोकों का सम्बन्ध, और परमेश्वर से सूर्य का सम्बन्ध अपनी विद्या द्वारा जान लेता है ॥

पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ। सूर्यभूमी। तदुपलक्षितं कृत्स्नं जगत्। **सद्यः**। सद्यः पस्त्परार्यैषमः०। पा० ५। ३। २२। इति समान–द्यस् प्रत्ययो दिनार्थे, समानस्य सभावः। समानेऽहनि। सपदि। तत्क्षणे। तत्त्वज्ञानसमकालमेव। **आयम्**। इण् गतौ-लङ् उत्तमैकवचनं गुणायादेशयोः अडागमः। अहं प्राप्तवानस्मि। **उपातिष्ठे**। उप+आ–तिष्ठे। उपेत्य स्थितोऽस्मि। नमस्करोमि। **प्रथमजाम्**। जन सन खन क्रमगमो विट्। पा० ३। २। ६७। इति जनी प्रादुर्भावजननयोः–विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। इति आत्त्वम्। प्रथमं जनयतीति प्रथमजाः। सृष्टेः पूर्वं जनयितारम्, उत्पादकम्। **ऋतस्य**। ऋ गतौ–क्त। सत्यस्य। यथार्थज्ञानस्य। वेदविज्ञानस्य। **वाचम्**। क्विप् वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घो ऽसंप्रसारणं च। उ० २। ५७। इति वच कथने-क्विप्। दीर्घोऽसम्प्रसारणं च। वाणीम्। वाक्यम्। **वक्तरि**। वच कथने तृच्। उपदेशके। प्रयोक्तरि वर्तमानां वाचं श्रोतारो यथा प्रयोगसमकाले

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

परि विश्वा । भुवनानि । आ अयम् । ऋतस्य । तन्तुम् । वि-ततम् । दृशे । कम् । यत्र । देवाः । अमृतम् । आनशानाः । । समाने । योनौ । अधि । ऐरयन्त ॥ ५

भाषार्थ—(विश्वा = विश्वानि) सब (भुवनानि) लोकों में (परि = परीत्य) घूम कर (ऋतस्य) सत्य नियम के (विततम्) सब ओर फैले हुये (तन्तुम) फैलने वाले [अथवा वस्त्र में सूत के समान सर्वव्यापक] (कम्) प्रजापति परमेश्वर को (दृशे) देखने के लिये (आयम्) मैं [प्राणी] आया हूं । (यत्र) जिस [परमात्मा] में (देवाः) तेजस्वी महात्मा (अमृतम्) अमृत [अमरण अर्थात् जीवन की सफलता वा अनश्वर आनन्द] को (आनशानाः) भोगते हुये (समाने) साधारण (योनौ) आदि कारण ब्रह्म में [प्रवृष्ट होकर] (अधि) ऊपर (ऐरयन्त) पहुंचे हैं ॥ ५ ॥

जानन्ति । भुवनेष्ठाः । भू सू धू भ्रस्जिभ्यश्छन्दसि । उ० २ । ८० । इति भू-क्युन् । भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनं जगत् । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति भुवन + ष्ठा गतिनिवृत्तौ-विच् । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा० ६ । ३ । १४ । इति सप्तम्या अलुक् । सर्वलोके परिपूर्णः परमात्मा । धास्युः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः-असुन । छन्दसि । परेच्छायामपि । वा० पा० ३ । १ । ८ । इति धास् क्यच् । क्याच् छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उप्रत्ययः । धाः धारणं पोषणं जगत इच्छतीति धास्युः सर्वपोषणेच्छुः । अग्निः । अ० १ । ६ । २ । सर्वव्यापकः सर्वज्ञः परमेश्वरः । अग्निवत् पोषकः ॥

५—तन्तुम् । सितनिगमिमसि० । उ० १ । ६६ । इति तनु विस्तारे-तुन् । तनोति विस्तृणोति तन्यते विस्तीर्यते वा स तन्तुः । विस्तारकम् । विस्तीर्णं सूत्रम् । पटस्य सूत्रवत् जगतः कारणभूतम् । विततम् । वि + तनु विस्तारे-क्त । विस्तृतम् । व्याप्तम् । दृशे । दृशे विख्ये च । पा० ३ । ४ । ११ । इति दृशिर् प्रेक्षणे-तुमर्थे के प्रत्ययः । द्रष्टुम् । कम् । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ ।

भावार्थ—ध्यानी धीर वीर पुरुष सामान्यतः समष्टि रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परीक्षा करके सब स्थान में व्यापक जगदीश्वर को साक्षात् करके आनन्द भोगते हैं, और यह अनुभव करते हैं, कि सब महात्मा अपने को उस परम पिता में लय करके आत्मा की परम उन्नति करते हैं, अर्थात् जो स्वार्थ छोड़ कर आत्म समर्पण करते हैं वही परोपकारी सज्जन परम आनन्द की सिद्धि [मुक्ति] को सदा हस्तगत करते हैं ॥ ५ ॥

यजुर्वेद अ० ३२ म० १० इस प्रकार है ।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ १ ॥

वही हमारा बन्धु और उत्पन्न करने हारा है, और वही पोषण करने हारा परमेश्वर सब (धामानि) अवस्थाओं और (भुवनानि) लोकों को जानता है जिस तीसरे लोक परब्रह्म [प्राणियों और सब भुवनों के स्वामी] में तेजस्वी जन अमृत को भोगते हुये ऊपर पहुंचे हैं ॥

इति क्रमेः क्रमेर्वा–ड प्रत्ययः । क्रमते रेफलोपः । कः कमनो क्रमणो वा सुखो वा–निरु० १० । २२ । प्रजापतिम् । विष्णुम् । ब्रह्म । सूर्यं, सूर्यवत् प्रकाशकम् । सुखस्वरूपम् । यत्र । यस्मिन् के परब्रह्मणि । देवाः । दिव्यगुणवन्तो महात्मानः । अमृतम् । म० २ । अमरणम् । जीवनसाफल्यम् । मोक्षम् । आनशानाः । लिटः कानज्वा । पा० ३ । २ । १०६ । इति अशू व्याप्तौ—कानच् । अश्नोतेश्च । पा० ७ । ४ । ७२ । नुडागमः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । अश्नुवानाः । प्राप्नुवन्तः । समाने । सम्यक् अनिति नीयते वा । सम्+अन जीवने–घञ्, यद्वा, सम्+आङ्+णीञ् प्रापणे–अच् । एकस्मिन्नेव । योनौ । वहिश्रिश्रुयुद्रु० । उ० ४ । ५१ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः–नि । आदिकारणे । ब्रह्मणि । अध्यैरयन्त । ईर गतौ । ऊर्ध्वं गतवन्तः । अन्यत् व्याख्यातं सुगमं च ॥

सूक्तम् २ ॥

१-५ ॥ गन्धर्वाप्सरा देवताः १—३ त्रिष्टुप्, ४ त्रिपदा त्रिष्टुप्, ५ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरः सर्वशक्तिमानित्युपदिश्यते-परमेश्वर सर्वशक्तिमान है इसका उपदेश।

दिव्यो गंधर्वो भुवनस्य यस्पतिरेकं एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ १ ॥

दिव्यः। गन्धर्वः। भुवनस्य। यः। पतिः। एकः। एव। नमस्यः। विक्षु। ईड्यः। तम्। त्वा। यौमि। ब्रह्मणा। दिव्य। देव। नमः। ते। अस्तु। दिवि। ते। सध-स्थम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो तू (दिव्यः) दिव्य [अद्भुत स्वभाव] (गन्धर्वः) गन्धर्व [भूमि, सूर्य, वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब ब्रह्मांड का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) स्वामी, (विक्षु) सब प्रजाओं [वा मनुष्यों] में (नमस्यः) नमस्कार योग्य और (ईड्यः) स्तुति योग्य है। (तम्) उस (त्वा) तुझ से, (दिव्य) हे अद्भुत स्वभाव (देव) जयशील परमेश्वर! (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (यौमि) मैं मिलता हूं, (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो, (दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (ते) तेरा (सधस्थानम्) सहवास है ॥ १ ॥

भावार्थ—धीर, वीर, ऋषि, मुनि पुरुष उस परम पिता जगदीश्वर की सत्ता को अपने में और प्रत्येक पदार्थ में वैदिक ज्ञान की प्राप्ति से साक्षात् करके अभिमान छोड़ कर आत्मबल बढ़ाते हुये आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

१—(गन्धर्व) परमेश्वर का नाम है, देखिये-ऋग्वेद मं० ६ सू० ८३ म० ४

गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः। गृभ्णाति रिपुं निधया निधापतिः सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत ॥ १ ॥

१—दिव्यः। छन्दसि च। पा० ५।१।६७। इति दिव-यः। दिवं प्रकाशं स्वर्गं वार्हतीति। द्योतनात्मकः। स्वर्गीयः। मनोज्ञः। **गन्धर्वः**। अ० २।१।२। गो+धृ-व। वाग्भूमिसूर्यस्वर्गाणां धारकः परमेश्वरः। **भुवनस्य**। अ० २।

(गन्धर्वः) पृथिवी आदि का धारण करने वाला, गन्धर्व, (इत्था) सत्यपन से (अस्य) इस जगत् की (पदम्) स्थिति की (रक्षति) रक्षा करता है और वह (अद्भुतः) आश्चर्यस्वरूप (देवानाम्) दिव्य गुणवालों के (जनिमानि) जन्मों अर्थात् कुलों की (पाति) चौकसी रखता है। (निधापतिः) पाश [बन्धन] का स्वामी (निधया) पाश से (रिपुम्) वैरी को (गृभ्णाति) पकड़ता है, (सुकृत्तमाः) बड़े बड़े सुकृती पुण्यात्मा लोगों ने (मधुनः) मधुर रस के (भक्षम्) भोग को (आशत) भोगा है ॥

दि॒वि स्पृ॒ष्टो य॑ज॒तः सूर्य॑त्वगवया॒ता हर॑सो दैव्य॑स्य। मृ॒डाद् ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यः॑ सु॒शेवाः॑ ॥२॥

दि॒वि। स्पृ॒ष्टः। य॒ज॒तः। सूर्य॑-त्वक्। अ॒व॒-या॒ता। हर॑सः। दैव्य॑स्य। मृ॒डात्। ग॒न्ध॒र्वः। भुव॑नस्य। यः। पति॑ः। एक॑ः। ए॒व। न॒म॒स्यः॑। सु॒-शेवाः॑ ॥२॥

भाषार्थ—(दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (स्पृष्टः) स्पर्श किये हुये, (यजतः)

१। ३। जगतः। **नमस्यः**। तदर्हति। पा० ५। १। ६३। इति नमस्-यत्। तित् स्वरितः। पा० ६। १। १८५। इति स्वरितत्वम्। नमस्कारयोग्यः। **विक्षु**। विश प्रवेशने-क्विप्। विशः=मनुष्याः—निघ० २। ३। प्रजासु। मनुष्येषु। **ईड्यः**। ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३। १। १२४। इति ईड स्तुतौ-ण्यत्। स्तुत्यः। **यौमि**। उतो वृद्धिर्लुकि हलि। पा० ७। ३। ८९। इति यु मिश्रणे-वृद्धिः। संयोजयामि। **ब्रह्मणा**। अ० १। ८। ४। वेदज्ञाने। **ते**। तुभ्यम्। नमः स्वस्तिस्वाहा०। पा० २। ३। १६। इति चतुर्थी। अनुदात्तं सर्वमपादादौ। पा० ८। १। १८। इत्यनुदात्तः। **दिवि**। दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुति०-क्विप्। स्वर्गे। प्रकाशे। व्यवहारे। **सधस्थम्**। सह तिष्ठन्त्यत्रेति। सह+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-अधिकरणे क प्रत्ययः। सध मादस्थयोश्छन्दसि। पा० ६। ३। ९६। इति सहस्य सधादेशः। सहस्थानम्। निवासस्थानम्। अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ॥

२—**दिवि**। म० १। प्रत्येकव्यवहारे। **स्पृष्टः**। स्पृश सम्पर्के-क्त। स्पर्शयुक्तः। स्थितः। **यजतः**। भृमृदृशियजि०। उ० ३। ११०। इति यज देवपूजा-

पूजनीय, (सूर्यत्वक्) सूर्य को त्वचा अर्थात् रूप देने वाला, (दैव्यस्य) मदशील [प्रमत्त] मनुष्य के, अथवा आधिदैविक (हरसः) क्रोध का (अवयाता) हटाने वाला वह परमेश्वर (मृडात्) [सब को] आनन्द देवे, (यः) जो (गन्धर्वः) गन्धर्व, [म० १। भूमि, सूर्य, वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब जगत् का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) स्वामी (नमस्यः) नमस्कार योग्य और (सुशेवाः) अत्यन्त सेवा योग्य है ॥२॥

भावार्थ-वह सर्वव्यापी, सूर्यादि प्रकाशक जगत्पिता परमेश्वर हमें सामार्थ्य देकर हमारे कुक्रोध और आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक क्लेश का नाश करता है। उस अद्वितीय, सर्व सेवनीय परमेश्वर की उपासना से सब को आनन्द मिलता है ॥२॥

१—परमेश्वर आदित्यवर्ण रूप है, य० अ० ३१। १८॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१॥

सङ्गतिकरणदानेषु—अतच्। चित्वाद् अन्तोदात्तः। यष्टव्यः। पूजनीयाः। **सूर्यत्वक्**। सूर्यः, व्याख्यातः-अ० १। ३। ५।। सुवति सरति वा स सूर्यः। त्वच संवरणे—क्विप्। यद्वा। तनोतेरनश्च वः। उ० २। ६३। इति तनु विस्तारे-चिक्, अन् इत्यस्य वः। त्वचति संवृणोति, यद्वा, तनोति विस्तारयतीति त्वक्। सूर्यस्य त्वग् रूपं यस्मात् सः। सूर्यस्रष्टा। **अवयाता**। या गतौ, अन्तर्भावितणिच्-तृच्। अवयापयिता, अवगमयिता। **हरसः**। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति हृञ् हरणे—असुन्। क्रोधस्य-निघ० २। १३। **दैव्यस्य**। अ० २। १२। ४ देवाद् यञञौ। वा० पा० ४। १। ८५। इति देव+यञ्। देवसम्बद्धस्य। आधिदैविकस्य। यद्वा मदशीलस्य, प्रमत्तस्य पुरुषस्य। **मृडात्**। मृड सुखने-लेटि आडागमः। इतश्चलोपः परस्मैपदेषु। पा० ३। ४। ९७। इति इकारलोपः। मृडयतु। सुखयतु। **सुशेवाः**। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति सु+शेवृ सेवने—असुन्। शोभनं शेवः शेवनं यस्येति। अनायासेन सेवनीयः। अन्यद् गतं मन्त्रे १ ॥

(अहम्) मैं, (तमसः) अन्धकार वा अज्ञान से (परस्तात्) परे होकर, (एतम्) इस (महान्तम्) पूजनीय वा सबसे बड़े (आदित्यवर्णम्) सूर्य को रूप देने वाले (पुरुषम्) अग्रगामी परमात्मा को (वेद) जानता हूं। (तम्) उस को (एव) ही (विदित्वा) जान कर [जीव] (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्येति) लांघ जाता है, (अन्यः) दूसरा (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) चलने के लिये (न) नहीं (विद्यते) विद्यमान है॥

२—परमेश्वर ने सूर्य और चन्द्र बनाया है। ऋग्वेद म० १०। सू० १९० ।३।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

(धाता) विधाता ने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्र को (यथापूर्वम्) पहिले के समान (अकल्पयत) बनाया है॥

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत्।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति॥३॥

अनवद्याभिः। सम्। ऊं इति। जग्मे। आभिः। अप्सरासु। अपि। गन्धर्वः। आसीत्। समुद्रे। आसाम्। सदनम्। मे। आहुः। यतः। सद्यः। आ। च। परा। च। यन्ति॥ ३॥

भाषार्थ—(गन्धर्वः) गन्धर्व [म० १] (आभिः) इन (अनवद्याभिः) निर्दोष [अप्सराओं] के साथ (उ) अवश्य (संजग्मे) संगति वाला था, और (अप्सरासु) अप्सराओं में [सब प्राणियों, वा अन्तरिक्ष वा बीज रूप जल में व्यापक, वा उत्तम रूप वाली अपनी शक्तियों में] (अपि) निः सन्देह (आसीत्) वर्त्तमान था। (आसाम्) इन [अप्सराओं] का (सदनम्) घर (समुद्रे) अन्तरिक्ष में [वा समुद्र रूप गंभीर स्थान में] (मे) मुझको (आहुः) वे बताते हैं, (यतः) जिस

३—अनवद्याभिः। अवद्यपण्यवर्यागर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु। पा० ३। १। १०१। इति अन्+अ+वद वाचि—यत्प्रत्ययान्तो निपातः। अगर्ह्याभिः। प्रशस्तगुणाभिः। सम्-जग्मे। सम्+गम्लृ-लिट्। समो गम्यृच्छि०। पा० १। ३। २९। इति सम्पूर्वाद् अकर्मकाद् गमेरात्मने पदम्। गमहन०। पा० ६। ४। ९८। इत्युपधालोपः। संगतवान्। अप्सरासु। आप्नोतेर्ह्रस्वश्च। उ० २।

स्थान से वे (च) अवश्य (आ यन्ति) आती (च, और (परा = परायन्ति) दूर चली जाती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—(गन्धर्व) भूमि आदि लोकों और वेदवाणी का धारक (अप्सराओं) अर्थात् सब प्राणियों और जल आदि सृष्टि के उपादान कारण पदार्थों में वर्त्तमान अपनी शक्तियों के साथ विराजमान रहता है, यह अद्भुत शक्तियां अति विस्तीर्ण आकाश में वर्त्तमान रहती, और मनुष्य आदि के शरीरों में परमाणुओं की संयोग दशा में दृश्य, और उनकी वियोग दशा में अदृश्य हो जाती हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(गन्धर्वः) और (अप्सरसः) शब्दों के लिये यजुर्वेद अ० १८ म० ३८–४३, छह मन्त्र देखें। वहाँ (अप्सरसः) शब्द है जो (अप्सराः) शब्द का पर्य्यायवाची है।

ऋ॒ता॒षाडृ॒तधा॑मा॒ग्निर्ग॑न्ध॒र्वस्तस्यौष॑धयो ऽप्स॒रसो॒ मुदो॒ नाम॑। स न॑ इ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट् ताभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

५८। इति आप्लृ व्याप्तौ–क्विप्। आपः, अन्तरिक्षनाम निघ० १। ३। उदक नाम-निघ० १। १२। दयानन्दभाष्ये प्राणा जलानि वा—य० ४। ७। आप्ताः प्रजाः—६। २७। व्यापिकास्तन्मात्राः—२७। २५। नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। पा० ३। १। १३४। इति सृ गतौ-पचाद्यच्। यद्वा। वृतॄवदिहनिकमिकषिभ्यः सः। उ० ३। ६२। इति आप्लृ व्याप्तौ—सप्रत्ययः। उपधाह्रस्वः। अप्सः = रूपम् निघ० ३। ७। रो मत्वर्थीयः। अथवा, रा दानादानयोः—अच्। टाप्। अप्सरा अप्सारिण्यपि वा ऽप्स इति रूपनाम, अप्सातेरप्सानीयं भवति, आदर्शनीयं व्यापनीयं वेति, तद्रा भवति रूपवती तदनयात्तमिति वा तदस्यै दत्तमिति वा-निरु० ५। १३। अप्सु आकाशे जलेषु प्राणेषु प्रजासु वा सरणशीलाः, अथवा रूपवत्यः परमेश्वरशक्तयः। **समुद्रे**। अ० १। ३। ८। अन्तरिक्षे-निघ० १।३।८। **सदनम्**। सीदन्त्यत्रेति। षद्लृ गतौ-ल्युट्। गृहम्। **आहुः**। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लट्। ब्रुवन्ति कथयन्ति ब्रह्मवादिनः। **आ+यन्ति**। इण् गतौ। आगच्छन्ति, आविर्भवन्ति सृष्टिकाले। **परा+यन्ति**। दूरे गच्छन्ति तिरोभवन्ति प्रलयकाले ॥

(ऋतापाट्) सत्य नियम का सहने वाला, (ऋतधामा) सत्य प्रभाव वाला, (अग्निः) सर्व व्यापक, वा अग्नि समान रक्षक, परमेश्वर (गन्धर्वः) सूर्य, पृथिवी, और वेद वाणी आदि का धारण करने वाला है। (तस्य) उसकी [गन्धर्व की बनायी] (मुदः) आनन्द देने वाली (औषधयः) ओषधें [अन्नादि वस्तुयें] (नाम) प्रसिद्ध रूप से (अप्सरसः) अप्सरायें अर्थात् आकाश, वा प्राणों, व जल में चलने वाली वा उत्तम रूप वाली सामग्री हैं। (सः) वह परमेश्वर (नः) हमारे लिये (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मण कुल और (क्षत्रम्) क्षत्रिय कुल की (पातु) रक्षा करे। (तस्मै) उस परमेश्वर को (स्वाहा) सुन्दर वाणी और (वाट्) आवाहन, और (ताभ्यः) उन सामग्रियों के लिये (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है॥

यह मन्त्र ३८ वां है। इसी प्रकार अन्य पांच मन्त्रों में (गन्धर्वः) शब्द (सूर्यः चन्द्रमाः, वातः, यज्ञः, मनः) शब्दों के साथ, और (अप्सरसः) शब्द (मरीचयः, नक्षत्राणि, आपः, दक्षिणाः, ऋक्सामानि) शब्दों के साथ क्रम से आये हैं।

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि॥ ४॥

अभ्रिये। दिद्युत्। नक्षत्रिये। याः। विश्व-वसुम्। गन्धर्वम्। सचध्वे। ताभ्यः। वः। देवीः। नमः। इत्। कृणोमि॥ ४॥

भाषार्थ—(अभ्रिये) अभ्र [मेघ] में [रहने वाली], (दिद्युत्=०—ति) बिजुली में [वर्तमान] और (नक्षत्रिये) नक्षत्रों में [रहने वाली] (याः) जो तुम सब (विश्वावसुम्) सब प्रकार के धनों के वा सब निवासस्थानों [लोकों] के

४—अभ्रिये—नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। पा० ३। १। १३४ इति अभ्र गतौ-पचाद्यच्। अथवा। अपो बिभर्तीति। अप्+भृ-क। अभ्रम्=मेघः-निघ० १। १०। समुद्राभ्राद् घः। पा० ४। ४। ११८। इति अभ्र-भवे घप्रत्ययः। घस्य इय् आदेशः। मेघेषु भवे स्थाने मेघस्य मण्डले वर्त्तमानाः। दिद्युत्। द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च। वा०। पा० ३। २। १७८ इति द्युत दीप्तौ-क्विप्। द्वित्वं च। द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्। पा० ७। ४। ६७। इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। अथवा द्यो अवखण्डे-क्विप्। पृषोदरादिरूपम्। द्यति पदार्थान्। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति सप्तम्या लुक्। द्योतमाने विद्युन्मण्डले। नक्षत्रिये। नक्षत्राद्

स्वामी (गन्धर्वम्) गन्धर्व [पृथिवी, सूर्य वा वेद वाणी के धारण करने वाले परमेश्वर] की (सचध्वे) सेवा करती हो। (देवीः=हे देव्यः!) हे देवियो! [दिव्य अर्थात् अद्भुत गुण वालियो!] (ताः) उन (वः) तुमको (नमः) नमस्कार (इत्) अवश्य (कृणोमि) मैं करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—यहां शक्तियों से शक्तिमान् परमेश्वर का ग्रहण है। संसार के प्रत्येक पदार्थ के अवलोकन से देखा जाता है कि यह अप्सरायें [परमेश्वर की अनन्त और अद्भुत शक्तियां] परमेश्वर के वशीभूत होकर सब सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त का कारण हैं। उन शक्तियों अर्थात् उनके स्वामी जगदीश्वर को बड़े छोटे प्राणी नम्रता से स्वीकार करते और उपकारों को विचार कर उपकारी बनकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

याः क्रन्दास्तमिषीचयो ऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्यो ऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

याः । क्रन्दाः । तमिषीचयः । अक्ष-कामाः । मनः-मुहः ।
ताभ्यः । गन्धर्व-पत्नीभ्यः । अप्सराभ्यः । अकरम् । नमः ॥५॥

भषार्थ—(याः) जो (क्रन्दाः) आवाहन करने हारी, (तमिपीचयः) इच्छा को सींचने [पूरा करने] हारी, (अक्षकामाः) अवहारों में कामना करानेवाली, (मनोमुहः) मन को आश्चर्य में करने वाली हैं। (ताभ्यः) उन (गन्धर्वपत्नीभ्यः) गन्धर्व की

घः। पा० ४। ४। १४१। इति नक्षत्र-घ प्रत्ययः। नक्षत्रेषु भवे लोके वर्त्तमानाः। **याः**। अप्सराः, यूयम्। **विश्वावसुम्**। विश्वस्य वसुराटोः। पा०। ६। ३। १२८। इति पूर्वपदस्य दीर्घः। बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्। पा० ६। २। १०६। इतिपूर्वपदस्य विश्वशब्दस्य अन्तोदात्तत्वम्॥ विश्वानि वसूनि यस्मिन् सः। सर्वधनसम्पन्नम्। यद्वा। सर्वे वसवो निवासा लोका यस्मिन् सः। सर्वाश्रयम्। **सचध्वे**। षच सेचने सेवने च, आत्मने पदम्। सेवध्वे। **देवीः**। वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति पूर्वसवर्णदीर्घः। देव्यो द्योतमानाः। **कृणोमि**। धिन्विकृण्व्योर च पा० ३। १। ८०। इति कृवि हिंसाकरणयोः-उप्रत्ययः, अकारश्चान्तादेशः। करोमि। अन्यत् सुगमम्॥

५—**क्रन्दाः**। क्रदि आह्वाने रोदने च-पचाद्यच्। टाप्। आवाहनशीलाः। **तमिषीचयः**। तमि-षिचयः। सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति तमु इच्छायां खेदे च-इन्। इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति षिच सेचने-इन्,

पत्नी [परमेश्वर की रक्षा में रहने वाली] (अप्सराभ्यः) अप्सराओं [प्राणियों में रहने वाली ईश्वर शक्तियों] को मैं ने (नमः) नमस्कार (अकरम्) किया है ॥५॥

भावार्थ—इस मन्त्र में भी अप्सराओं अर्थात् शक्तियों से उनके स्वामी परमेश्वर का ग्रहण है। वह परमेश्वर दुष्टों पर गरजता और शिष्टों का आवाहन करना, अनन्त बलवान्, उत्तम कर्मों में प्रीति कराने वाला और मनोहर स्वभाव है, सब जड़ और चेतन्य नमस्कार करके उस सर्वशक्तिमान् की आज्ञा मानते, और आनन्दित होते हैं ॥ ५ ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१—६ ॥ भेषजं देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

शारीरिकमानसिकरोगनाशोपदेशः—शारीरिक और मानसिक रोग की निवृत्ति के लिये उपदेश।

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ॥
तत् ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥

अदः । यत् । अव-धावति । अवत्-कम् । अधि । पर्वतात् ।
तत् । ते । कृणोमि । भेषजम् । सु-भेषजम् । यथा । असंसि ॥१॥

भाषार्थ—(अदः) वह (यत्) जो संगति योग्य ब्रह्म (अवत्कम्) नित्य

किति ह्रस्वः। छान्दसो दीर्घः। तमिम् इच्छां सिञ्चन्ति तास्तमिसिचयः। इच्छापूरयितृभ्यः। अक्षकामाः। अक्ष व्याप्तौ, संहतौ—पचाद्यच्। यद्वा। अशू-देवने। उ० ३। ६५। इति अशू व्याप्तौ—सप्रत्ययः। अक्षो व्यवहारः। यथा, अक्षदर्शकः, अक्षदृक्—व्यवहारनिर्णेता, न्यायकर्त्ता। काम्यतेऽसौ। कमु स्पृहायाम्—कर्मणि घञ्। अक्षेषु व्यवहारेषु सत्कर्मसु कामोऽभिलाषो याभ्यस्तास्तथाभूताः। व्यवहारोत्साहिभ्यः। मनोमुहः। मनस्+मुह वैचित्त्ये—क्विप्। मनसः, चित्तस्य मोहयितृभ्यः, आश्चर्यं विस्मयं कर्त्र्यः। गन्धर्वपत्नीभ्यः। विभाषा सपूर्वस्य पा० ४। १। ३४। इति गन्धर्व+पति—नकारङीपौ। गन्धर्वः पूर्वोक्तः परमात्मा पतिः, रक्षकः, स्वामी यासां ताभ्यः। गन्धर्वेण परमेश्वरेण रक्षिताभ्यः। अप्सराभ्यः। मन्त्रे ३। आकाशप्राणादिषु वर्त्तमानाभ्यः। अकरम्। डुकृञ् करणे—लुङ्। कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि। पा० ३। १। ५९। इति च्लेः अङ् आदेशः। ऋदृशोऽङि गुणः। पा० ७।४।१६। इति गुणः। अहं कृतवान्। नमः। सत्कारम् ॥

१—अदः। न दस्यते उत्क्षिप्यतेऽङ्गुलिर्यत्र इदन्तया। न+दसु

चलने वाला जल प्रवाह [के समान] (पर्वतात् अधि) पर्वत के ऊपर से (अव-धावति) नीचे को दौड़ता आता है। [हे औषध !] (तत्) उस [ब्रह्म] को (ते) तेरे लिये (भेषजम्) औषध (कृणोमि) मैं बनाता हूं, (यथा) जिस से कि (सुभेषजम्) उत्तम औषध (असखि) तू हो जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—हिम वाले पर्वतों से नदियां ग्रीष्म ऋतु में भी बहती रहती और अन्न आदि औषधों को हरा भरा करके अनेक विधि से जगत् का पोषण करती हैं, इसी प्रकार औषध का औषध, वह ब्रह्म सब के हृदय में व्यापक हो रहा है। सब मनुष्य ब्रह्मचर्य सेवन और सुविद्या ग्रहण से शारीरिक और मानसिक रोगों की निवृत्ति करके सदा उपकारी बनें और आनन्द भोगें ॥ १ ॥

आदुङ्ग कुविदुङ्ग शतं या भेषजानि ते ।

तेषामसि त्वमुत्तममनास्त्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

आत् । अङ्ग । कुवित् । अङ्ग । शतम् । या । भेषजानि । ते । तेषाम् । असि । त्वम् । उत्-तमम् । अनास्त्रावम् । अरोगणम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे ! (अङ्ग) हे [ब्रह्म !] (आत्) फिर (कुवित्) अनेक

उत्क्षेपे—क्विप् । अनुत्क्षेपणीयम् । पुरोवर्त्ति । विप्रकृष्टम् । यत् । त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति यज—अदिः, स च डित् । यजति सर्वैः पदार्थैः सह सङ्गतं भवतीति । यजनीयं संगन्तव्याम् । प्रसिद्धम् । ब्रह्मणो नाम-इति दयानन्दः—उणादिकोषव्याख्यायाम् । अव-धावति । पाघ्राध्मास्थाम्ना०। पा० ७ । ३ । ७८ । इति सृधातोः धौ इत्यादेशः शीघ्रगमने । अवरुह्य शीघ्रं सरति गच्छति । अवत्कम् । अव-अत्कम् । इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् । उ० ३ । ४३ । इति अव+अत सातत्यगमने-कन् । शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । १ । ६४ । इति पररूपम् । अवातति सन्यमानमधोगच्छति । जलप्रवाहः । अवतः कूपानाम-निघ० ३ । २३ । पर्वतात् । अ० १ । १२ । ३ । शैलात् । तत् । त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति तनु उपकृतौ विस्तृतौ च-अदः, डित् । तनोति सर्वं, यद्वा, तन्यते सर्वत्र । ब्रह्मणो नामविशेषः । विस्तीर्णम् । ब्रह्म । भेषजम् । अ० १ । ४ । ४ । औषधम् । सुभेषजम् । सुः पूजायाम् । पा० १ । ४ । ६४ । उत्कृष्टमौषधम् । अतिशयितवीर्ययुक्तम् । यथा । येन प्रकारेण । असखि । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । इति शपोऽलुक् । असि । भवेः ॥

२—आत् । अव्ययम् । पुनः । अनन्तरम् । अङ्ग । अव्ययम् । निपातस्य

प्रकार से (या=यानि) जो (ते) तेरी [बनायी] (शतम्) सौ [असंख्य] (भेषजानि) भय निवर्त्तक औषधें हैं, (तेषाम्) उनमें से (त्वम्) तू आप (उत्तमम्) उत्तम गुण वाला, (अनास्रावम्) बड़े क्लेश का हटाने वाला और (अरोगम्) रोग दूर करने वाला (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—संसार की सब ओषधियों में क्लेशनाशक और रोगनिवर्त्तक शक्ति का देने वाला वही ओषधियों का ओषधि परब्रह्म है ॥ २ ॥

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् ।

तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

नीचैः । खनन्ति । असुराः । अरुःस्राणम् । इदम् । महत् । तत् । आ-स्रावस्य । भेषजम् । तत् । ऊं इति । रोगम् । अनीनशत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(असुराः) बुद्धिमान् पुरुष (इदम्) इस (अरुस्राणम्) व्रण [स्फोट=फोड़े] को पका कर भर देने वाली, (महत्) उत्तम औषध को (नीचैः) नीचे नीचे (खनन्ति) खोदते जाते हैं। (तत्) वही विस्तृत ब्रह्म

च । पा० ६ । ३ । १ । १३६ । इति सांहितको दीर्घः । इत्युभयत्र दीर्घः । संबोधने । हे । **कुवित्** । निपातोऽयम् । वहुनाम-निघ० ३ । १ । बहुधा बहुप्रकारेण । **शतम्** । दश दशतः परिमाणमस्येति । पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्च० । पा० ५ । १।५९। इति तः । दशानां शभावश्च निपात्यते । दशगुणित दश सङ्ख्या । शतं दशदशतः–निरु० ३ । १० । बहुनाम-निघ० ३ । १ । अपरिमितानि । असङ्ख्यातानि । **भेषजानि** । अ० १ । ४ । ४ । भिषज् अण् । यद्वा । भेष+जि-ड । औषधानि । **उत्तमम्** । अ० १ । ६ । २ । उत्—तमप् । उत्कृष्टतमम् । **अनास्रावम्** । अ० १ । २ । ४ । अन्+आङ्+स्रु-ण । क्लेशरहितम् । **अरोगणम्** । रुजो भङ्गे-भावे ल्युट्, छान्दसं कुत्वम् । अरोजनाम् । रोगनिवर्तकम् ॥

३—**नीचैः** । नौ दीर्घश्च उ० ५ । १३ । इति नि+चि चयने-डैसि, नेर्दीर्घत्वं च । अधोऽधः । अन्तरन्तः । **खनन्ति** । खनु अवदारणे । अवदारयन्ति, उत्मूलयन्ति । अन्वेषणेन प्राप्नुवन्ति । **असुराः** । अ० १० । १ । १ । असेरुरन् । उ०

(आस्रावस्य) बड़े क्लेश की (भेषजम्) औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य बड़े बड़े परिश्रम और परीक्षा करके उत्तम औषधों को लाकर रोगों की निवृत्ति करके प्राणियों को स्वस्थ करते हैं, वैसे ही विज्ञानियों ने निर्णय किया है कि उस परमेश्वर ने आदि सृष्टि में ही मानसिक और शारीरिक रोगों की औषधि उत्पन्न कर दी है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (अनीनशत्) के स्थान में [अशीशमत्] पाठ है ॥

उ॒प॒जीका॒ उद्भ॑रन्ति समु॒द्राद॑धि भेष॒जम् ।
तदा॑स्रा॒वस्य॑ भेष॒जं तदु॒ रोग॑मशीशमत् ॥ ४ ॥

उप॒-जीकाः । उत् । भ॒र॒न्ति॒ । स॒मु॒द्रात् । अधि॑ । भे॒ष॒जम् ।
तत् । आ॒-स्र॒वस्य॑ । भे॒ष॒जम् । तत् । ऊं॒ इति॑ । रोग॑म् । अ॒शी॒श॒मत् ॥

भाषार्थ—(उपजीकाः) [परमेश्वर के] आश्रित पुरुष (समुद्रात् अधि) आकाश [समस्त जगत्] में से (भेषजम्) भयनिवारक ब्रह्म को, (उद्भरन्ति) ऊपर निकालते हैं । (तत्) वही [ब्रह्म] (आस्रावस्य) बड़े क्लेश का (भेषजम्)

---

१ । ४२ । इति असु क्षेपणे, यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु-उरन् । यद्वा, असुः, प्राणः, रो मत्वर्थीयः । ज्ञानवन्तः । दीप्यमानाः । प्रज्ञावन्तः—निरु० १० । ३४ । प्राणवन्तः पुरुषाः । **अरुस्राणम्** । अरुः—स्राणम् । अर्त्तिपृवपियजि० । उ० २ । ११७ । इति ऋ गतौ, हिंसायां वा-उसि । इति अरुः, व्रणः । स्रै पाके-ल्युट् । अरुषो व्रणस्य पाककरम् । **महत्** । अ० १ । १० । ४ । बड़म् । विपुलम् । **आस्रवस्य** । अ० १ । २ । ४ । महाक्लेशस्य । **रोगम्** । पदरुजविशस्पृशो घञ् । पा०३ । ३ । १६ । इति रुजो भङ्गे-घञ् । व्याधिम् । उपतापम् । **अनीनशत्** । इति णश अदर्शने, नाशे च-एयन्तात् लुङि चङि रूपम् । नाशयति स्म ॥

४—**उपजीकाः**—कषिदूषिभ्यामीकन् । उ० ४ । १६ । इति बाहुलकात्, उप+जीव प्राणधारणे-ईकन्, स च डित् । उपजीविनः । परमेश्वराश्रिताः । प्राणिनः । वल्मीकानिष्पादिका वम्रयः-इति सायणः । **उद्भरन्ति** । उत्-भृञ् ।

औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अशीशमत्) शान्त कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर [का] सहारा रखने वाले पुरुष संसार के प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर को पाते हैं। और उस आदिकारण की महिमा को साक्षात् करके अपने सब क्लेशों का नाश करके आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्भृतम्।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

अरुः-स्राणम्। इदम्। महत्। पृथिव्याः। अधि। उत्-भृतम्। तत्। आ-स्रावस्य। भेषजम्। तत्। ऊं इति। रोगम्। अनीनशत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (अरुस्राणम्) फोड़े को पका कर भरने वाला (महत्) उत्तम [औषध] (पृथिव्याः) पृथिवी से (अधि) ऊपर (उद्भृतम्) निकाल कर लाया गया है। (तत्) वही [ज्ञान] (आस्रावस्य) बड़े क्लेश का (भेषजम्) औषध है, (तत्) उस ने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—महाक्लेश नाशक ब्रह्म ज्ञान रूप औषध पृथिवी आदि लोकों के प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान है, मनुष्य उस को प्रयत्न पूर्वक प्राप्त करें और रोगों की निवृत्ति करके स्वस्थ चित्त होकर आनन्दित रहें ॥ ५ ॥

उद्धरन्ति। ऊर्ध्वं हरन्ति। **समुद्रात्।** अ० १। ३। ८। अन्तरिक्षात्। सर्व-संसारात्। **भेषजम्।** भय निवारकं परब्रह्म। उदकम्-निघ० १। १२। सुखम् निघ० ३। ६। **आस्रावस्य।** म० ४। महाक्लेशस्य। **अशीशमत्।** शमु उपशमे, रायन्तात् लुङि चङि रूपम्। उपशाम्यति नाशयति स्म ॥

५—**अरुस्राणम्।** म० ३। अरुषः पाचयितृ। **पृथिव्याः।** अ० १। २। १। विस्तीर्णात् भूलोकात्। **उद्भृतम्।** उत्-भृञ्-क्त। उद्धृतम्। उन्मूलितम्। सर्वथा ज्ञानेन प्राप्तम्। अन्यद् व्याख्यातं म० ३ ॥

शं नो॑ भवन्त्वाप ओष॑धयः शि॒वाः । इन्द्र॑स्य वज्रो॒ अप॑ हन्तु र॒क्षस॑ आ॒राद् विसृ॑ष्टा इष॑वः पतन्तु र॒क्षसा॑म् ॥६॥

शम् । नः । भ॒वन्तु॒ । आपः । ओष॑धयः । शि॒वाः । इन्द्र॑स्य । वज्रः॑ । अप॑ । ह॒न्तु॒ । र॒क्षसः॑ । आ॒रात् । वि-सृ॑ष्टाः । इष॑वः । प॒त॒न्तु॒ । र॒क्षसा॑म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आपः) जल और (ओषधयः) उष्णता धारण करने वाली या ताप नाश करने वाली अन्नादि ओषधें (नः) हमारे लिये (शम्) शान्ति कारक और (शिवाः) मंगल दायक (भवन्तु) होवें । (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य वाले पुरुष का (वज्रः) (रक्षसः) राक्षस का (अपहन्तु) हनन कर डाले, (रक्षसाम्) राक्षसों के (विसृष्टाः) छोड़े हुये (इषवः) बाण (आरात्) दूर (पतन्तु) गिरें ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के अनुग्रह से हम पुरुषार्थ करते रहें, जिस से जल, अन्न आदि सब पदार्थ शुद्ध रह कर प्रजा में आरोग्यता बढ़ावें, और जैसे राजा चोर, डाकू आदि दुष्टों को दण्ड देता है कि प्रजा गण कष्ट न पावें और सदा आनन्द भोगें, ऐसे ही हम अपने दोषों का नाश करके आनन्द भोगें ।

टिप्पणी—अजमेर के पुस्तक और सायणभाष्य की संहिता में (अपः) पाठ है, और सायणभाष्य और पं० सेवकलाल मुद्रापित पुस्तक में (आपः) पाठ है, हमने भी (आपः) ही लिया है ॥

६—**शम्** । अ० १ । ३ । १ । शमनाय । शान्तिप्रदाः । **आपः** । अ० १ । ५ । ३ । जलानि । **ओषधयः** । अ० १ । २३ । १ । ओष-डुधाञ् धारणपोषणयोः–कि । अन्नादिबलप्रदपदार्थाः । **शिवाः** । अ० १ । ६ । ४ । सर्वनिघृष्व० । उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने-वन् । शीङो ह्रस्वत्वम् । शिवम्=सुखम्—निघ० ३ । ६ । ततो अर्श आद्यच् । सुखकारिण्यः । **इन्द्रस्य** । अ० १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य । **वज्रः** । अ० १ । ७ । ७ । कुलिशः । कुठारः । **अपहन्तु** । अपहननं विनाशं करोतु । **रक्षसः** । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति रक्ष पालने—अपादाने असुन् । रक्षो रक्षितव्यमस्मात्—निरु० ४ । १८ । कर्मणि षष्ठी । राक्षस्य । दुष्टस्य । **आरात्** । दूरदेशे । **वि-सृष्टाः** । वि+सृज त्यागे—क्त । त्यक्ताः । प्रेषिताः । प्रयुक्ताः । **इषवः** । अ० १ । १३ । ५ । शत्रुहिंसका बाणाः । **पतन्तु** । अधोगच्छन्तु । **रक्षसाम्** । दुराचारिणां पुरुषाणाम् ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—६ ॥ जङ्गिडो देवता । १—पूर्वार्धौ द्विपदा त्रिष्टुप् ११×२=२२, उत्तरार्धौ द्विपदाऽनुष्टुप् ८×२=१६, २—६ अनुष्टुप्छन्दः ॥

मनुष्यः परमेश्वरभक्त्यायुर्वर्धयेत्—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से आयु बढ़ावे ।

दीर्घायुत्वायं बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥१॥

दीर्घायु-त्वायं । बृहते । रणाय । अरिष्यन्तः । दक्षमाणाः । सदा । एव । मणिम् । विस्कन्ध-दूषणम् । जङ्गिडम् । बिभृमः । वयम् ॥१॥

भाषार्थ—(दीर्घायुत्वाय) बड़ी आयु के लिये और (बृहते) बड़े (रणाय) रण में [जीत] वा रमण के लिये (अरिष्यन्तः) [किसी को] न सताते हुये और (सदा एव) सदा ही, (दक्षमाणाः) वृद्धि करते हुये (वयम्) हम लोग (विष्कन्धदूषणम्) विघ्न· निवारक और (मणिम) प्रशंसनीय (जङ्गिडम्) शरीर भक्षक रोग वा पाप के निगलने वाले [औषध वा परमेश्वर] को (बिभृमः) हम धारण करें ॥१॥

भावार्थ—जगत् में कीर्त्तिमान् होना ही आयु का बढ़ाना है । मनुष्यों को परमेश्वर के ज्ञान और पथ्य पदार्थों के सेवन से पुरुषार्थ पूर्वक पाप और

१—दीर्घायुत्वाय । छन्दसीणः । उ० १ । २ । इति दीर्घ+इण गतौ-उण् । ततो भावे त्व प्रत्ययः । चिरकालजीवनाय । रणाय । रमणाय, मकार-लोपे यद्वा, संग्रामाय । अरिष्यन्तः । रिष हिंसायाम् शतृ, नञ्समासः । अहिंसन्तः । दक्षमाणाः । दक्ष वृद्धिशैघ्रययोः—शानच् । वर्धमानाः । मणिम् । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति मण शब्दे—इन् । मण्यते स्तूयते स मणिः । बहुमूल्यः पाषाणो वा रत्नम् । प्रशस्तम् । विष्कन्धदूषणम् । वि+स्कन्दिर् शोषणे गत्यां च—घञ्, धश्चान्तादेशः । दुष वैकृत्ये ण्यन्तात् करणे ल्युट् । दोषो णौ । पा० ६ । ४ । ९० । इति ऊत्वम् । विशेषेण शोषकस्य विघ्नस्य विकर्तारं निवारकम् । जङ्गिडम् । जमति भक्षयतीति

रोग रूप विघ्नों को हटा कर सत्पुरुषों की वृद्धि में अपनी और संसार की उन्नति समझ कर सदा सुख भोगना चाहिये ॥१॥

१—सायणभाष्य में (दक्षमाणाः) के स्थान में [रक्षमाणाः] पद है।

२—सायणाचार्य ने (जङ्गिड) वृक्ष विशेष वाराणसी में प्रसिद्ध बताया है ॥

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धादभिशोचनात्।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

जङ्गिडः। जम्भात्। वि-शरात्। वि-स्कन्धात्। अभि-शोचनात्।
मणिः। सहस्र-वीर्यः। परि। नः। पातु। विश्वतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सहस्रवीर्यः) सहस्रों सामर्थ्य वाला, (जङ्गिडः) शरीर भक्षक रोगों का निगलने वाला (मणिः) मणिरूप अति श्रेष्ठ औषध वा परमेश्वर (नः) हमको (जम्भात्) नाश से, (विशरात्) हिंसा से, (विष्कन्धात्) विघ्न से, और (अभिशोचनात्) महा शोक से, (विश्वतः) सब प्रकार और (परि) सब ओर (पातु) बचावे ॥ २ ॥

जः। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। इति जम भक्षे—ड। गिरतीति गिरः। मेघर्तिभयेषु कृञः। पा० ३। २। ४३। इति बाहुलकात्, गॄ निगरणे—खच्। अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्। पा० ६। ३। ६७। इति अजन्तस्य मुम्। रकारस्य उत्वम्। आत्मभक्षकस्य रोगस्य पापस्य वा निगरणशीलं भक्षकम् औषधं परमात्मानं वा। **बिभृमः**। डुभृञ् धारणपोषणयोः—श्लौ लट्। धारयामः ॥

२—**जङ्गिडः**। म० १। आत्मभक्षकस्य रोगस्य पापस्य वा भक्षको नाशकः। **जम्भात्**।। जभि नाशीकरणे, जृम्भे वा-पंचाद्यच्। रधिजभोरचि। पा० ७। १। ६१। इति नुम्। नाशनात्। हानिसकाशात्। क्रूरकर्मत्वात्। **विशरात्**। ऋदोरप्। पा ३। ३। ५७। इति वि+शॄ हिंसायाम्-अप्। विशरणात्। वधात्। मारणात्। **विष्कन्धात्**। म० १। शोषकात्। विघ्नात्। **अभिशोचनात्**। अभि+शुच् शोके-ल्युट्। मनसः पीडायाः। अतिशोकात्। **मणिः**। म० १। प्रशंसनीयः। **सहस्रवीर्यः**। तत्र साधुः। पा० ४। ४। ६४। इति वीर-यत्। अथवा, भावे यत् प्रत्ययः। सहस्राणि वीर्याणि सामर्थ्यानि यस्मिन् सः। अपरि-

भावार्थ—मनुष्य सर्व रक्षक और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में श्रद्धालु होकर पथ्य पदार्थों का सेवन करता हुआ पुरुषार्थ करे कि आलस्य आदि दुर्व्यसन और हिंसक राक्षस आदि रोग न सतावें, किन्तु सुरक्षित होकर आनन्द प्राप्त करें ॥ २ ॥

अयं विष्कन्धं सहते॒ऽयं बा॑धते अ॒त्रिणः॑।
अ॒यं नो॑ वि॒श्वभे॑षजो ज॒ङ्गिडः॑ पा॒त्वंह॑सः ॥३॥

अ॒यम् । वि॒ऽस्क॒न्धम् । स॒ह॒ते॒ । अ॒यम् । बा॒ध॒ते॒ । अ॒त्रिणः॑ ।
अ॒यम् । नः॒ । वि॒श्वऽभे॑षजः । ज॒ङ्गि॒डः । पा॒तु॒ । अंह॑सः ॥३॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (विश्वभेषजः) सर्वौषध (जङ्गिडः) पापों वा रोगों का भक्षक [परमेश्वर वा औषध] (विष्कन्धम्) विघ्न को (सहते) दबाता है, (अयम्) यही (अत्रिणः) खाउओं वा रोगों को (बाधते) रोकता है। (अयम्) यही (नः) हमको (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्साही विचारवान् पुरुष परमेश्वर में विश्वास और पथ्य पदार्थों का सेवन करके अपनी दूरदर्शिता से मानसिक और शारीरिक बाधाओं को हटाकर अटल सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

मितपराक्रमः। **परि** । परितः। सर्वतः। **नः** । अस्मान्। उपसर्गाद् बहुलम्। पा० ८। ४। २८। इति नसो णत्वम्। **विश्वतः** । पञ्चम्यास्तसिल्। पा० ५। ३। ७। इति विश्व-तसिल्, लिति। पा० ६। १। १९३। इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम्। विश्वस्मात् सर्वस्मात् खेदात् ॥

३—**विष्कन्धम्** । म० १। विघ्नम्। **सहते** । षह अभिभवे। अभिभवति। **बाधते**। बाधृ विलोडने। निवारयति नाशयति। **अत्त्रिणः** । अ० १। ७। ३। अद भक्षणे-त्रिनि। अत्तॄन्, भक्षकान् पुरुषान् रोगान् वा। **विश्वभेषजः** । सर्वेषां रोगादीनां जेता निवर्तकः। सर्वौषधः। **अंहसः** । अमेर्हुक् च। उ० ४। ११३। इति अम रोगे, गतौ च- असुन् हुक् च। रोगात्। पापात् ॥

दे॒वैर्द॒त्तेन॑ म॒णिना॑ जङ्गि॒डेन॑ मयो॒भुवा॑ ।
विष्क॑न्धं सर्वा॒ रक्षां॑सि व्याया॒मे स॑हामहे ॥४॥

दे॒वैः । द॒त्तेन॑ । म॒णिना॑ । ज॒ङ्गि॒डेन॑ । म॒यः॒ऽभुवा॑ । वि॒ऽस्क॑न्धम् । सर्वा॑ । रक्षां॑सि । वि॒ऽआ॒या॒मे । स॒हा॒म॒हे॒ ॥४॥

भाषार्थ—(देवैः) विद्वानों करके (दत्तेन) दिये हुये [उपदेश किये हुये] (मणिना) मणि [अति श्रेष्ठ], (मयोभुवा) आनन्द के देने हारे (जङ्गिडेन) रोगों के भक्षक [परमेश्वर वा औषध] द्वारा (विष्कन्धम्) विघ्न और (सर्वा=सर्वाणि) सब (रक्षांसि) राक्षसों को (व्यायामे) संग्राम में (सहामहे) हम दबावें ॥४॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्वानों के सत्संग से दुःख नाशक परमेश्वर के उपकारों पर दृष्टि करके पुरुषार्थ के साथ पथ्य द्रव्यों का सेवन करके विघ्नकारी दुष्ट जीवों, पापों और रोगों को हटाकर सदा आनन्द में रहें ॥ ४ ॥

श॒णश्च॑ मा जङ्गि॒डश्च॒ विष्क॑न्धाद॒भि र॑क्षताम् ।
अर॑ण्याद॒न्य आभृ॑तः कृ॒ष्या अ॒न्यो रसे॑भ्यः ॥ ५ ॥

श॒णः । च॒ । मा॒ । ज॒ङ्गि॒डः । च॒ । वि॒ऽस्क॑न्धात् । अ॒भि । र॒क्ष॒ता॒म् । अर॑ण्यात् । अ॒न्यः । आऽभृ॑तः । कृ॒ष्याः । अ॒न्यः । रसे॑भ्यः ॥५॥

भाषार्थ—(च) निश्चय करके (शणः) आत्मदान वा उद्योग, (च) और (जङ्गिडः) रोग भक्षक परमेश्वर वा औषध दोनों, (मा) मुझको (विष्क-

---

४—देवैः । विद्वद्भिः । दत्तेन । दीयते इति । दा-क्त । कृतदानेन । उपदिष्टेन । मयोभुवा । अ० १ । ५ । १ । सुखस्य भावयित्रा, उत्पादकेन । व्यायामे । वि+आङ्+यम परिवेषणे-घञ् । मल्लक्रीडाप्रदेशे । संग्रामे । सहामहे । अभिभवामः । अन्यद् व्याख्यातम्, म० १ ॥

५-शणः । शण दाने, गतौ-पचाद्यच् । दानम् । आत्मसमर्पणम् । गतिः ।

न्धात्) विघ्न से (अभि) सर्वथा (रक्षताम्) बचावें। (अन्यः) एक (अरण्यात्) तप के साधन वा विद्याभ्यास से और (अन्यः) दूसरा (कृष्याः) कर्षण अर्थात् खोजने से (रसेभ्यः) रसों अर्थात् पराक्रमों वा आनन्दों के लिये (आभृतः) लाया जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मदानी, उद्योगी, पथसेवी और परमेश्वर के विश्वासी पुरुष अपनी और सब की रक्षा कर सकते हैं। यही योगी जन तपश्चर्या, विद्याभ्यास, और खोज करने से आत्मदान [ध्यान शक्ति] और परमेश्वर में श्रद्धा प्राप्त करके अनेक सामर्थ्य और आनन्द का अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६॥

कृत्याऽदूषिः। अयम्। मणिः। अथो इति। अराति-दूषिः। अथो इति। सहस्वान्। जङ्गिडः। प्र। नः। आयूंषि। तारिषत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय पदार्थ (कृत्यादूषिः) पीड़ा देने हारी विरुद्ध क्रियाओं में दोष लगाने वाला, (अथो) और भी (अरातिदूषिः)

उद्योगः। जङ्गिडः। म० १। पापभक्षकः परमेश्वरः। औषधम्। अभि। अभितः, सर्वतः। रक्षताम्। उभौ पालयताम्। अरण्यात्। अर्तेर्निच्च। उ० ३। १०२। इति ऋ गतौ-अन्यप्रत्ययः। ऋच्छन्ति गच्छन्ति तपस्विनो यत्र। यद्वा। अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति नञ्+रम-यत्। अरमणं शरीरश्रमो यत्र। तपः साधनात् विद्याभ्यासात्। अन्यः। माछाससिभ्यो यः। उ० ४। १०९। इति अन जीवने-यः। एकतरः। आभृतः। अ० १। ६। ४। हस्य भः। आहृतः। आनीतः। कृष्याः। इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति कृष विलेखने-इन्, सच कित्। कर्षणात्। अनुसन्धानात्। अन्वेषणात्। रसेभ्यः। पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण। पा० ३। ३। ११८। इति रस आस्वादे, स्नेहे-घ। रस्यते अनुभूयत इति रसः। रसानां वीर्याणां प्राप्तये। अथवा। आनन्दानामनुभवाय ॥

६—कृत्यादूषिः। विभाषा कृवृषोः। पा० ३। १। १२० इति कृञ्

अदानशीलों [कंजूसों] में दोष लगानेवाला है। (अथो) और भी (सहस्वान्) वही महाबली (जङ्गिडः) रोग भक्षक परमेश्वर वा औषध (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्र तारिषत्) बढ़ती वाला करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो कुचाली मनुष्य विरुद्ध मार्ग में चलते और सत्य पुरुषार्थों में आत्मदान अर्थात् ध्यान नहीं करते, वे ईश्वर नियम से महा दुःख उठाते हैं। सत्य पराक्रमी और पथ्य सेवी पुरुष उस महाबली परमेश्वर के गुणों के अनुभव से अपने जीवन को बढ़ाते हैं, अर्थात् संसार में अनेक प्रकार से उन्नति करके आनन्द भोगते और अपना जन्म सफल करते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

१—७॥ इन्द्रो देवता। १—३ अनुष्टुप्, ४—७ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्यः सदैवोन्नतिप्रयत्नं कुर्य्यात्—मनुष्य सदैव उन्नति का उपाय करता रहे॥

इन्द्र॑ जु॒षस्व॒ प्र व॒हा या॑हि शूर॒ हरि॑भ्याम् ।

पिबा॑ सु॒तस्य॑ म॒तेरि॒ह मधो॑श्चका॒नश्चारु॒र्मदा॑य ॥१॥

इन्द्र॑ । जु॒षस्व॑ । प्र । व॒ह॒ । आ । या॒हि॒ । शू॒र॒ । हरि॑-भ्याम् ।

पिब॑ । सु॒तस्य॑ । म॒तेः । इ॒ह । मधोः॑ । च॒का॒नः । चारुः॑ । मदा॑य ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन्! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो,

---

हिंसायाम्—क्यप् तुक् च, टाप् च। अच इः। उ० ४। १३९। दुष वैकृत्ये-णिजन्तात् इ प्रत्ययः। कृत्यायाः। हिंसाया दूषको निवारकः। अथो। ओत्। पा० १। १। १५। इति प्रगृह्यत्वात् सन्धिनिषेधः। अपि च। अरातिदूषिः। अरातिः। अ० १। २। ३। न+रा दाने-क्तिच्। अरातयोऽदानकर्माणो वादानप्रज्ञा वा- निरु० ३। ११। दूषिः-इति गतम्। अदातॄणां कृपणानां शत्रूणां दूषको नाशकः। आयूंषि। अ० १। ३०। ३। जीवनानि। प्र+तारिषत्। प्र पूर्वस्तरतिर्वृद्ध्यर्थः। लेट्। सिप् बहुलं लेटि। पा० ३। १। ३४। इति सिप्। सिपो णिद्भावाद् वृद्धिः। लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४। ९४। आडागमः। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु। पा० ३। ४। ९७। इकार लोपः। प्रवर्धयेत् ॥

१—इन्द्र। अ० १। २। ३। इदि परमैश्वर्ये-रन्। हे परमैश्वर्यवन् राजन्!

(प्र वह) आगे बढ़, (शूर) हे शूर ! (हरिभ्याम्) हरणशील दिन और रात अथवा प्राण और अपान के हित के लिये (आ याहि) तू आ। (चारुः) मनोहर स्वभाव वाला, (मदाय) हर्ष के लिये (चकानः) तृप्त होता हुआ तू, (इह) यहां पर (मतेः) बुद्धिमान पुरुष के (सुतस्य) निचोड़ के (मधोः) मधुर रस का (पिब) पान कर ॥१॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि सदा प्रसन्न रहकर उन्नति करे और करावे। और सब के (हरिभ्याम्) दिन और रात अर्थात् समय को, और प्राण और अपान वायु अर्थात् जीवन को परोपकार में लगावे और बुद्धिमानों के ज्ञान के सारांश [निचोड़] के रस का ग्रहण करके आनन्द भोगे ॥१॥

म० १—३, सामवेद उत्तरार्चिक प्रपाठक ३. अर्धप्रपाठक १ तृच २२ में कुछ भेद से हैं ॥

इन्द्रं जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्व१र्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥२॥

इन्द्रं । जठरम् । नव्यः । न । पृणस्व । मधोः । दिवः । न ।
अस्य । सुतस्य । स्वः । न । उप । त्वा । मदाः । सु-वाचः । अगुः ॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (नव्यः) नवीन [बहुत तृषित] के (न)

मनुष्य। जुषस्व। जुषी प्रीतिसेवनयोः-लोट्। प्रीयस्व। हृष्टो भव। प्रवह। प्रगच्छ। शूर। शुसिचिमीनां दीर्घश्च। उ० २। २५ इति शु गतौ-क्रन्। शवति वीर्य्यं प्राप्नोतीति। यद्वा, शूर विक्रमे उद्यमे-अच्। हे वीर। हरिभ्याम्। हृपिषि रुहिवृति०। उ० ४। ११९। इति हृञ् हरणे-इन्। हरणं प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च। हरतीति हरिः सूर्यः, चन्द्रः, वायुः, इति कोषे। द्विवचनत्वात् सूर्यचन्द्राभ्याम् तयोरुपलक्षितदिनरात्रिहिताय। अथवा, वायुभ्याम् प्राणापानाभ्यां तयोरुपलक्षितजीवनहिताय। हरिभ्यां हरणसाधनाभ्यामहोरात्राभ्यां कृष्णशुक्लपक्षाभ्याम्-इति श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, ऋ १। ३५। ३। सुतस्य। षुञ् अभिषवे, यद्वा, षु प्रसवैश्वर्ययोः-क्त। अभिषवस्य, सारस्य ऐश्वर्यस्य। मतेः। क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्। पा० ३।३।१७४। इति मन् बोधे-क्तिच्। मतयः, मेधाविनामसु-निघ० ३। १५। मेधाविनः पुरुषस्य। मधोः। मधुररसस्य। चकानः। चक तृप्तौ-शानच्। तृप्तिकामः। चारुः। दृसनिजनिचरिचटिभ्यो ञुण्। उ० १।३। इति चर गतौ-ञुण्। शोभनस्वभावः, मनोज्ञः॥

२—जठरम्। जायते गर्भो मलं वा अस्मिन्निति जठरः। जनेररष्ठच। उ०

समान, (दिवः) स्वर्ग के (न) सदृश (मधोः) मधुर रस से (जठरम्) अपने उदर को (पृणस्व) तृप्त कर। (अस्य) इस (सुतस्य) निचोड़ [तत्त्व] के (सुवाचः) सुन्दर वाणियों से युक्त (मदाः) आनन्द (स्वर्) स्वर्ग में (न) जैसे [वर्त्तमान] (त्वा) तुझको (उप अगुः) उपस्थित हुये हैं॥ २॥

भावार्थ—राजा विद्वानों के साथ संभाषण करके बड़ी प्रीति से नीति का सारांश ग्रहण करके आनन्द प्राप्त करे॥ २॥

इस मन्त्र में तीन (न) सदृशता वाची हैं, और मन्त्र ३ में दो हैं।

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून् मदे सोमस्य॥ ३॥

इन्द्रः। तुराषाट्। मित्रः। वृत्रम्। यः। जघान। यतीः। न।
बिभेद। वलम्। भृगुः। न। ससहे। शत्रून्। मदे। सोमस्य॥३॥

भाषार्थ—(यतीः) यति [यत्नशील] पुरुष के (न) समान (यः)

५। ३८। इति जन जननप्रादुर्भावयोः—अर, नस्य ठः। अथवा, जटति एकत्री भवति अन्नादिकमत्र। जट संहतौ-अर, टस्य ठः। उदरम्। **नव्यः**। नूयते स्तूयत इति। अचो यत्। पा० ३। १। ९७। इति णु स्तुतौ-यत्। यद्वा, नवएव। स्वार्थे यत्। नूतनः। स्तुत्यः। **न**। उपमार्थे। अग्निर्न ये भ्राजसा, अग्निरिव-निरु०। ३। १५। इव। यथा। **पृणस्व**। पृण तृप्तीकरणे। तर्पय। पूरय। **मधोः**। तृतीयार्थे षष्ठी। मधुररसेन। **दिवः**। स्वर्गस्य। अत्यानन्दस्य। **सुतस्य**। म० १। तत्त्वस्य। **स्वर्**। अव्ययं व्याहृतिविशेषश्च। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। इति सु+ऋ गतौ-विच्। यद्वा। स्वृ शब्दोपतापयोः—विच्। स्वरादित्यो भवति सु अरणः सु ईरणः स्वृतो रसान् स्वृतो भासं ज्योतिषां स्वृतो भासेति वा-निरु० २। १४। स्वर्गे आनन्दविशेषे वर्त्तमानम्। **मदाः**। मदि स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति गतिषु-अच्। आमोदाः। हर्षाः। **सुवाचः**। शोभना वाचा येषां ते। शोभनस्तुतियुक्ताः। **अगुः**। इण् गतौ-लुङ्। इणो गा लुङि पा० २। ४। ४५। गतवन्तः। प्राप्तवन्तः॥

३—**तुराषाट्**। तुतोर्त्ति वेगेन गच्छतीति तुरः, वेगवान्। तुर वेगे-क।

जिस (तुराषाट्) शीघ्र जीतने वाले, (मित्रः) सब के प्रेरक (इन्द्रः) प्रतापी राजा ने (वृत्रम्) अन्धकार वा डांकू को (जघान) नाश किया था। (भृगुः) ज्ञान में परिपक्व ऋषि के (न) सदृश उस ने (वलम्) हिंसक दैत्य को (बिभेद) तोड़ फोड़ डाला, और (सोमस्य) अपने ऐश्वर्य [ठाट] के (मदे) मद में (शत्रून्) शत्रुओं को (ससहे) हराया था ॥ ३ ॥

भावार्थ—महा प्रतापी राजा बड़े बड़े यत्न वाले और बुद्धिनिपुण वीरों का अनुकरण करके विरोधी शत्रुओं और अज्ञान का नाश करके प्रजा को आनन्द देते और आप आनन्द पाते हैं ॥ ३ ॥

(यतीः) पद के स्थान में सामवेद में उपरोक्त पते पर [यतिः] पद है ॥

अथवा, घञर्थे भावे कः। वेगः। तुरं वेगवन्तं शत्रुं वेगेन सहते अभिभवतीति तुराषाट्। तुर+षह अभिभवे, णिच्-क्विप्। सहेः साडः सः। पा० ८। ३।५६। इति षत्वम्। अन्येषामपि दृश्यते। पा० ६। ३। १३७। इति पूर्व पदस्य दीर्घः। शीघ्रं शत्रूणामभिभविता। **मित्रः**। अ० १। ३। २। स्नेहवान्। अन्धकारस्य क्षेपको नाशकः। **वृत्रम्**। अ० १। २१। १। वृतु वर्त्तने-रक्। यद्वा, वृञ्-क्त उ० ४। १६४। तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः— निरु० २। १६। त्वाष्ट्रः=त्वष्टुः सूर्याज्जातः। अन्धकारम्। शत्रुम्। **जघान**। हतवान्। **यतीः**। अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः। उ० ३। १५८। इति यत प्रयत्ने— ईप्रत्ययः। प्रयत्नवान्। तापसः। यतिः **बिभेद**। भिन्नवान्। **वलम्**। वल दाने वधे जीवने च-अच्। हिंसकं दैत्यम्। **भृगुः**। तपसा भृज्यते। प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च। उ० १। २८। इति भ्रस्ज पाके-कु। न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वं च। परिपक्वः। ज्ञानपरिपक्वः। ऋषिः। मुनिः। **ससहे**। षह अभिभवे— लिट्। अभिभूतवान् जितवान् **शत्रून्**। दृशातिभ्यां क्रुन्। उ० ४। १०३। इति शातिः क्रुन्। शति सौत्रो धातुर्हिंसार्थः—इति सायणः, ऋ० १। ५। ४। इति शत शाते=पतने पातने-क्रुन्। नित्त्वादाद्युदात्तः। शातकान्, निपातकान्। रिपून्। **सोमस्य**। अर्त्तिस्तुसुहुसृधृ०। उ० १। १४०। इति प्रसवैश्वर्ययोः— मन्। सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः। ऐश्वर्यस्य ॥

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः। श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

आ। त्वा। विशन्तु। सुतासः। इन्द्र। पृणस्व। कुक्षी इति। विड्ढि। शक्र। धिया। इहि। आ। नः। श्रुधि। हवम्। गिरः। मे। जुषस्व। आ। इन्द्र। स्वयुक्-भिः। मत्स्व। इह। महे। रणाय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन्! (सुतासः) यह निचोड़े हुये रस (त्वा) तुझ में (आ) यथाविधि (विशन्तु) प्रवेश करें, (कुक्षी) दोनों कुक्षियों को (पृणस्व) तू भर, और (विड्ढि=विध) शासन कर, (शक्र) हे शक्तिमान् (धिया) [अपनी अनुग्रह] बुद्धि से (नः) हमारे पास (आ+इहि=एहि) आ। (हवम्) पुकार (श्रुधि) सुन, (इन्द्र) हे राजन्! (मे) मेरी (गिरः) वाणियों को (जुषस्व) स्वीकार कर, और (स्वयुग्भिः) अपनी युक्तियों से (इह) यहां पर (महे) बड़े (रणाय) रण [जीतने] के लिये (आ) यथानियम (मत्स्व) हर्षित हो ॥ ४ ॥

४। आ+विशन्तु। प्रविशन्तु। सुतासः। षुञ् अभिषवे-क्त। आज्जसेरसुक्। पा० ७। १। ५०। अभिषुताः सोमाः। पृणस्व। म० २। तर्पय। कुक्षी। प्लुषि कुषि शुषिभ्यः क्सिः। उ० ३। १५५। इति कुष निष्कर्षे-क्सि। दक्षिणोत्तरकुक्षिद्वयम्। आत्मानमित्यर्थः विड्ढि। विध विधाने=शासने तुदादिः। लोटि छान्दसः श विकरणस्य लुक्। हेर्ध्यादिशे ढत्वष्टुत्वजश्त्वानि। त्वं विध विधानं शासनं कुरु। शक्र। स्फायितञ्चिवञ्चिशकि०। उ० २। १३। इति शक्लृ शक्तौ-रक्। शक्नोतीति। हे शक्तिमन्। हे समर्थ। धिया। ध्यै चिन्तने-क्विप्। सम्प्रसारणं च। धीः, कर्मनाम निघ० २। १। प्रज्ञानाम-निघ० ३। ६। प्रज्ञया। बुद्ध्या। श्रुधि। श्रु श्रवणे। विकरणस्य लुक्। श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि पा० ६। ४। १०२। इतिहेर्धिरादेशः। अन्येषामपि दृश्यते। पा० ६। ३। १३७। इति सांहितिको दीर्घः। शृणु। हवम्। अ० १। १५। २। ह्वेञ्

भावार्थ—राजा अनेक श्रेष्ठ विद्याओं के रस से अपने आत्मा को सन्तुष्ट करे, और न्याय पूर्वक प्रजा की रक्षा करता हुआ शत्रुओं को जीतकर आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सायणभाष्य में (विड्ढि) के स्थान में [वृड्ढि = वर्धय] है ॥

इन्द्र॑स्य॒ नु प्र वो॑चं वी॒र्या॑णि॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री । अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त् पर्व॑तानाम् ॥५॥

इन्द्र॑स्य । नु । प्र । वो॒च॒म् । वी॒र्या॑णि । यानि॑ । च॒कार॑ । प्र॒थ॒मानि॑ । व॒ज्री । अह॑न् । अहि॑म् । अनु॑ । अ॒पः । त॒त॒र्द॒ । प्र । व॒क्षणाः॑ । अ॒भि॒न॒त् । पर्व॑तानाम् ॥५॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवाले पुरुष के (वीर्याणि) पराक्रमों को (नु) शीघ्र (प्र) अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूं; (यानि) जिन (प्रथमानि) प्रसिद्ध, अथवा प्रथम श्रेणि के अति श्रेष्ठ कर्मों को (वज्री) उस वज्रधारी पुरुषने (चकार) किया था। [अर्थात्] (अहिम्) सर्प के समान [हनन करने वाले], अथवा,

---

आह्वाने-अप्। आह्वानम्। अवाहनम्। **गिरः**। गॄ शब्दे-क्विप्। गृणाति = अर्चति निघ० ३। १४। वाचः। वाक्यानि। **जुषस्व**। सेवस्व। स्वीकुरु। **स्वयुग्भिः**। स्व + युजिर् समाधौ, यद्वा०। युज संयमने— क्विप्। युज्यते समाधत्ते, यद्वा, योजयति नियमयतीति युक्। स्वयुक्तिभिः। आत्मीयैः समाधिमद्भिः संयोगवद्भिर्वा मित्रैः। **मत्स्व**। मदी हर्षे। छान्दसम् आत्मनेपदम। हृष्टो भव। **महे**। मह पूजायां-क्विप्। महते। **रणाय**। रमणाय। आनन्दाय। यद्वा। युद्धजयाय ॥

५—**इन्द्रस्य**। ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य। **नु**। क्षिप्रम्-निघ० २। १५। **प्र**। निपातस्य च। पा० ६। ३। १३६। इति दीर्घः। ऋग्वेदे तु (प्र) इति पाठः। प्रकर्षेण। **वोचम्**। वच्, वा, ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि। आशीर्लिङि छान्दसं रूपम्। अहम् उच्यासम्। **वीर्याणि**। अ० १। ७। ५। वीरकर्माणि। पराक्रमान्। **प्रथमानि**। अ० १। १२। १। प्रथितानि। प्रख्यातानि। सुप्रसिद्धानि। अन्यैः पूर्वकृतानि। **वज्री**। ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०। उ० २। २८। इति वज गतौ-रन् प्रत्ययान्तो निपात्यते। अत इनिठनौ। पा० ५। २। ११५। इति वज्र-इनि। वज्रविशिष्टः। कुलिशयुक्तः।

बादल के समान [प्रकाश रोकने वाले] हिंसक जन को (अहन्) उस ने मार डाला, (अनु) अनुक्रम से (अपः) [उस दुष्ट के] कर्म का (ततर्द) अपमान किया, और (पर्वतानाम्) मेघों के समान [अन्धकार से छाये हुए], अथवा पहाड़ों के समान [दृढ़ स्वभाव वाले] दुराचारियों की, अथवा, पहाड़ों में गुप्त (वक्षणाः) रुष्ट वा क्रुद्ध सेनाओं को (प्र) सर्वथा (अभिनत्) छिन्नभिन्न करदिया ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्व कालीन (इन्द्र) प्रतापी और (वज्री) तेजस्वी नीति कुशल पुरुषों का यश कीर्तन इतिहास द्वारा करें, और उनका अनुकरण करके कुरीतियों के त्याग और सुरीतियों के प्रचार से आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

मन्त्र ५–७ ऋग्वेद में हैं—मं० १ सू० ३२ म० १–३ ॥

(प्रा) के स्थान पर ऋग्वेद में (प्र) है ।

ईसाइयों की नवीन धर्म पुस्तक (New Testament) मत्ती, पर्व १२ वाक्य ३४ में " सांप"–बुरे पुरुष के लिये आया है । "हे सापों के वंश ! तुम बुरे होके अच्छी बातें क्योंकर कह सकते हो क्योंकि जो मन में भरा है उसी को मुंह से बोलता है" ॥

दण्डवान् । अहन् । हन हिंसागत्योः—लङ् । हतवान् । अहिम् । आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च । उ० ४ । १३८ । इति आङ्+हन हिंसागत्योः—इण्, स च डित् । आङो ह्रस्वत्वम् । धार्मिकाणाम् आहन्तारम् । सर्पम् । सर्पवत् क्लेशप्रदम् । अहिः, मेघनाम–निघ० १ । १० । मेघवत् प्रकाशनिरोधकं पुरुषम् । अनु । अनुक्रमेण । अपः । आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा । उ० ४ । २०८ । इति आप्लृ व्याप्तौ–असुन् । कर्मनाम–निघ० ३ । १ । तस्य अरेर्दुष्टकर्म, इत्यर्थः । ततर्द । उतृदिर् हिंसानादरयोः–लिट् । जिहिंस । अनादृतवान् । तिरस्कृतवान् । वक्षणाः । क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च । पा० ३ । २ । १५१ । इति वक्ष रोषे–युच् । चित्स्वरं बाधित्वा प्रत्ययस्वरः । रुष्टाः क्रुद्धाः सेनाः । प्र–अभिनत् । भिदिर् विदारणे–लङ् । भिन्नवान् । विदारितवान् । पर्वतानाम् । भृमृदृशियजिपर्वि० । उ० । ३ । ११० । इति पूर्व पूरणे–अतच् । पर्वति पूर्यतीति पर्वतः । यद्वा, स्नामदिपद्यर्त्ति पृशक्तिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पॄ पालन–पूरणयोः—वनिप् । पृणन्ति पालयन्ति अवयविनमिति पर्वाणि । तन् पर्वमरुद्भ्यां वक्तव्यः । वा० पा० ५ । २ । १२२ । इति पर्व–तन् मत्वर्थे । पर्वतः, मेघनाम–निघ० १ । १० । मेघवद् अन्धकारस्य वर्धकानाम् । यद्वा । शैलवद् दृढस्वभावान् । यद्वा । शैलानां मध्ये स्थितानाम् ॥

अहृन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥६

अहन् । अहिम् । पर्वते । शिश्रियाणम् । त्वष्टा । अस्मै ।
वज्रम् । स्वर्यम् । ततक्ष । वाश्राः-इव । धेनवः । स्यन्दमानाः ।
अञ्जः । समुद्रम् । अव । जग्मुः । आपः ॥ ६ ॥

भावार्थ—(त्वष्टा) सूक्ष्म करने वाले [सूक्ष्मदर्शी] पुरुष ने (पर्वते) बादल [के समान प्रकाश रोकने वाले जन समूह] में, अथवा पहाड़ पर (शिश्रियाणम्) ठहरे हुये (अहिम्) सर्परूप वा मेघरूप [हिंसक वा प्रकाश रोकने वाले] को (अहन्) वध किया, (अस्मै) इस [प्रयोजन] के लिये (स्वर्यम्) ताप वा पीड़ा देने वाला (वज्रम्) वज्र (ततक्ष) उसने तीक्ष्ण किया। (वाश्राः) रंभाती हुयी (धेनवः इव) गौओं के समान, (स्यन्दमानाः) वेग से बहते हुये, (अञ्जः) प्रकट (आपः) जल [जलरूप प्रजा गण] (समुद्रम्) समुद्र में [राजा के पास] (अव) उतर कर (जग्मुः) पहुंच गये ॥ ६ ॥

६—अहन् । म० ५ । हतवान् । अहिम् । म० ५ । सर्वतो हननशीलम् । सर्पसमानहिंसकम् । मेघसमानप्रकाशनिरोधकं पुरुषम् । पर्वते । म० ५ । जातावेकवचनम् । पर्वतेषु । मेघसमानान्धकारवर्धकेषु पुरुषेषु । यद्वा, शैलप्रदेशे स्थितम् । शिश्रियाणम् । श्रिञ् सेवायां-लिटः कानच् । चित्वाद् अन्तोदात्तः । आश्रितम् । त्वष्टा । त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्तास्त्विषेर्वास्याद् दीप्तिकर्मणस्त्वक्षतेर्वा स्याद् करोति कर्मणः-निरु० ८ । १३ । नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृ० । उ० २ । ९६ । इति त्वक्ष् तनूकरणे-तृन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । व्यवहाराणां तनूकर्ता । सूक्ष्मदर्शी । विश्वकर्मा । इन्द्रः पुरुषः । अस्मै । अस्मै प्रयोजनाय । अहेर्हननायेत्यर्थः । वज्रम् । म० ५ । कुलिशम् । स्वर्यम् । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति स्वृ शब्दोपतापयोः—घ । यद्वा । नन्दिग्रहिपचादि० । पा० ३ । १ । १३४ । इति स्वर आक्षेपे-अच् । ततः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति स्वरे उपतापे पीड़ने यद्वा, शत्रूणाम् आक्षेपे तिरस्करणे साधु योग्यम् । ततक्ष । तक्ष् तनूकरणे-लिट् । तनूकृतवान् । तीक्ष्णं

भावार्थ—पूर्वज विवेकी राजाओं ने दण्ड व्यवस्था स्थापन करके अपने प्रकट और गुप्त शत्रुओं को मारा, तब प्रजा गण प्रसन्न होकर उस हितकारी राजा को अभिनन्दन देने गये, जैसे रंभाती हुयी गौयें बछड़ों के पास, अथवा वृष्टि के जल एकत्र होकर समुद्र में दौड़ कर जाते हैं। इसी प्रकार सब राजा और प्रजा गण परस्पर रहकर आनन्द मनाते रहें ॥ ६ ॥

मनु जी ने कहा है-अ० ७ श्लोक १८।

दण्डः शास्ति सर्वाः प्रजा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥

दण्ड ही सब प्रजा पर शासन रखता, दण्ड ही सब ओर से रक्षा करता, दण्ड ही सोते मुओं में जागता है, विद्वान् लोग दण्ड को धर्म जानते हैं॥

वृषायमा॑णो अवृणीत सोम॒ं त्रिक॑द्रुकेष्वपिबत्सुतस्य॑ ।
आ साय॑कं म॒घवा॑दत्त वज्र॒ मह॑न्नेनं प्रथम॒जामही॑नाम् ॥७॥

वृष॒-यमा॑नः । अवृणीत । सोम॑म् । त्रि-क॑द्रुकेषु । अपिबत् । सुतस्य॑ । आ । साय॑कम् । मघ-वा॑ । अदत्त । वज्र॑म् । अह॑न् । एनम् । प्रथम-जाम् । अही॑नाम् ॥७॥

भावार्थ—(वृषायमाणः) ऐश्वर्यवाले के समान आचरण करते हुये पुरुष

चकार। वाश्राः। स्फायितञ्चिवञ्चिशकि०। उ० २। १३। इति वाश्र शब्दे-रक्। शब्दायमानाः। वत्सान् प्रति हंभारवयुक्ताः। धेनवः। धेट इच्च। उ० ३। ३४। इति धेट् पाने-नु। नवप्रसूता गावः। स्यन्दमानाः। स्यन्दू प्रस्रवणे-लटः शानच्। प्रस्रवन्त्यः। प्रवहन्त्यः। अञ्जः। अञ्जू व्यक्तिगति म्रक्षणेषु-क्विप्। व्यक्ताः। गमनशीलाः। समुद्रम्। अ० १। १३। ३। इति सम्+उन्दी क्लेदने-रक्। जलाधारम्। सागरम्। अन्तरिक्षम्। अव। नीचैः। अधस्तात्। अनायासेन। जग्मुः। गम्लृ-लिट्। प्रापुः। आपः। अ० १। ५। १। जलानि॥

७—वृषायमाणः। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति

ने (सुतस्य) उत्पन्न संसार के (त्रिकद्रुकेषु) तीन आवाहनों [उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, अथवा, शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के विधानों] के निमित्तों में (सोमम्) ऐश्वर्य वा अमृत रस [कीर्त्ति] को (अवृणीत) अङ्गीकार किया और (अपिवत्) पान किया [आत्मा में दृढ़ किया]। (मघवा) उस पूजनीय पुरुष ने (सायकम्) काटने वाले बाण वा खड्ग और (वज्रम्) वज्र हथियार को (आ अदत्त) लिया और (अहीनाम्) बड़े घातकों [प्रकाश नाशक] मेघ वा सर्प रूप असुरों के बीच (प्रथमजाम्) प्रधानता से प्रसिद्ध अर्थात् अग्रगामी (एनम्) इस [समीपस्थ अर्थात् आत्मा में स्थित दुष्ट] को (अहन्) मार डाला॥

भावार्थ—इस सूक्त के तीन मन्त्रों में ५-७ (इन्द्र) का (अहि) के मार कर उन्नति करने का वर्णन है और मन्त्र ७ में (त्रिकद्रुकेषु) पद तीन आवाहनों का द्योतक है। इसका प्रयोजन यह है कि जैसे तपस्वी, धैर्यवान्, शूर वीर पुरुषों ने जितेन्द्रिय वशिष्ट होकर अपने आत्मिक, कायिक और सामाजिक शत्रु कुक्रोध आदि को मारा, उन्हों ने ही संसार की वृद्धि, पालन और नाश के कारण को खोजा, और तीन प्रकार की आत्मिक, शारीरिक और

वृषु सेचनप्रजननैश्वर्येषु-क। कर्तुः क्यङ् स लोपश्च। पा० ३।१।११। इति आचारे क्यङ्। अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः। पा० ७।४।२५। इति दीर्घः। ततः शानच्। वृष इव ऐश्वर्यवानिवाचरन् पुरुषः। **अवृणीत**। वृञ् संभक्तौ लङ्। वृतवान्, स्वीकृतवान्। **सोमम्**। अ० १। ६। २। षु प्रसवैश्वर्ययोः-मन्। ऐश्वर्यम्। अमृतम्। कीर्त्तिम्। **त्रिकद्रुकेषु**। कृशातिभ्यां क्वुन्। उ०४। १०३। इति त्रि+कदि आह्वाने—क्वुन्। समासान्तः कप् च। त्रयाणां संसारोत्पत्ति-स्थितिविनाशानाम्, अथवा, शारीरिकात्मिकसामाजिकवृद्धीणां कद्रुकेषु आह्वानेषु विधानेषु निमित्तेषु। **अपिवत्**। पीतवान्। अनुभूतवान्। **सुतस्य**। षु प्रसवैश्वर्ययोः—क्त। उत्पन्नस्य संसारस्य। **सायकम्**। स्यति नाशयतीति सायकः। ण्वुल् तृचौ। पा० ३।१।१३३। इति षो अन्तकर्मणि-ण्वुल्, युक् आगमः। शत्रूणां घातकं बाणं खड्गं वा। **मघवा**। मह्यते पूज्यतेऽसौ। श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १। १५६। इति मह पूजायाम्-कनिन्। निपातनात् हस्य घः, अवुक् आगमश्च। पूज्यः पुरुषः। **आ-अदत्त**। लङि-रूपम्। आङो दोऽनास्यविहरणे। पा० १।३।२०। इत्यात्मनेपदम्। अगृह्णात्।

सामाजिक उन्नति करके अमर अर्थात् महाकीर्त्तिमान् हुये, इसी प्रकार सब स्त्री पुरुष जितेन्द्रिय होकर संसार में उन्नति करके कीर्त्ति पाकर अमर हो और आनन्द भोगें ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता ॥ १—४, ५ परार्धस्त्रिष्टुप्, ५ पूर्वार्धोऽनुष्टुप् ॥

राजधर्मेण मनुष्यः प्रतापी तेजस्वी च भूयात्—राजनीति से मनुष्य प्रतापी और तेजस्वी होवे ॥

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सुरा ऋषयो यानि सत्या । सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥१॥

समाः । त्वा । अग्ने । ऋतवः । वर्धयन्तु । सम्-वत्सराः ऋषयः । यानि । सत्या । सम् । दिव्येन । दीदिहि । रोचनेन । विश्वाः । आ । भाहि । प्र-दिशः । चतस्रः ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी विद्वान् ! (समाः) अनुकूल (ऋतवः) ऋतुयें और (संवत्सराः) वर्षें, और (ऋषयः) ऋषि लोग, और (यानि) जो (सत्या=सत्यानि तानि) सत्य कर्म हैं [वे सब] (त्वा) तुझ

स्वीकृतवान् । एनम् । समीपवर्तिनम् आत्मनि स्थितम् । प्रथमजाम् । अ० २ । १ । ४ । जन—विट् , आत्त्वं च । प्रथमेन प्रधानतया जातं प्रसिद्धम् । अहीनाम् । म० ५ । आहन्तॄणाम् असुराणां मध्ये । अन्यद् गतमस्मिन्नेव सूक्ते ॥

१—समाः । षम वैक्लव्ये-पचाद्यच् । अविषमाः । साधवः । अनुकूलाः । अग्ने ! हे ज्ञानिन् । अग्निवत्तेजस्विन् । कार्येषु व्यापनशील वा । ऋतवः ।

को (वर्धयन्तु) बढ़ावें। (दिव्येन) अपनी दिव्य वा मनोहर (रोचनेन) झलक से (सम्) भले प्रकार (दीदिहि) प्रकाशमान हो, और (विश्वाः) सब (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) महादिशाओं को (आभाहि) प्रकाशमान कर ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े प्रयत्न से अपने समय को यथावत् उपयोग से अनुकूल बनावें, ऋषि आप्त पुरुषों से मिल कर उत्तम शिक्षा प्राप्त करें, और सत्यसंकल्पी, सत्यवादी और सत्यकर्मी सदा रहें। इस प्रकार संसार में उन्नति करें और कीर्त्तिमान् होकर प्रसन्न चित्त रहें ॥१॥

मन्त्र १–५ यजु० अ० २७ मन्त्र १–३, ५, ६ हैं। और वहां इनके ऋषि अग्नि माने हैं ॥

सं चे॒ध्यस्वा॑ग्ने॒ प्र च॑ वर्धये॒ममुच्च॑ तिष्ठ मह॒ते सौभ॑गाय। मा ते॑ रिषन्नुपस॒त्तारो॑ अग्ने ब्र॒ह्माण॑स्ते य॒शस॑: सन्तु॒ मान्ये ॥ २ ॥

सम्। च। इ॒ध्यस्व॑। अग्ने॑। प्र। च॒। व॒र्ध॒य॒। इ॒मम्। उत्। च॒। ति॒ष्ठ॒। म॒ह॒ते। सौभ॑गाय। मा। ते॒। रि॒ष॒न्। उ॒प॒ऽस॒त्तार॑:। अग्ने॒। ब्र॒ह्माण॑:। ते॒। य॒शस॑:। स॒न्तु॒। मा। अ॒न्ये ॥२॥

भाषार्थ—(च) और (अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी विद्वान्! (सम्) भले

अर्तेश्च तुः। उ० २। ७९। इति ऋ गतौ–तु, किच्च। वसन्तादिकालाः। **वर्धयन्तु**। समर्धयन्तु। **संवत्सराः**। सम्यग्वसन्ति भूतानि यत्र। सं पूर्वाच्चित्। उ० उ० ३। ७२। इति सम्+वस निवासे– सरन्। चित्वादन्तोदात्तः। द्वादशमासात्मकाः कालाः। वर्षाः। **ऋषयः**। इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति ऋष गतौ दर्शने च–इन् किच्च। ऋषति प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान्, ज्ञानेन पश्यति संसारं परमात्मानं च वा स ऋषिः। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः–निरु० १। २०। ऋषिर्दर्शनात्–निरु० २। ११। साक्षात्कृतधर्माणः। आप्ताः। सन्मार्गदर्शकाः। **सत्या**। शेर्लोपः। सत्यानि। सत्यकर्माणि। **दिव्येन**। अ० २। १। २। छन्दसि च। पा० ६। १। ६७। इति दिव– य प्रत्ययः। मनोज्ञेन। **दीदिहि**। बहुलं छन्दसि पा० २। ४।७६। दिवु दीप्तौ–शपः श्लुः। तुजादीनां दीर्घो०। पा० ६।१।७। इत्यभ्यासस्य दीर्घः। दीप्य। दीप्यस्व। **रोचनेन**। रुच दीप्तौ भावे ल्युट्। दीप्त्या। प्रकाशेन। **भाहि**। भा दीप्तौ अन्तर्भावितण्यर्थः। भापय। दीपय। **प्रदिशः**। प्रकृष्टाः प्राच्याद्या महादिशाः॥

२–**इध्यस्व**। इन्धी दीप्तौ कर्मकर्तरि यकि। अनिदिताम्०। पा० ६।४।२४।

प्रकार (इध्यस्व) प्रकाशमान हो, (च) और (इमम्) इस समाज]को (प्र+वर्धय) समृद्ध कर, (च) और (महते) बहुत (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये (उत्+तिष्ठ) उठकर खड़ा हो। (अग्ने) हे विद्वान् (ते) तेरे (उपसत्तारः) पास बैठने हारे [उपासक] (मा रिषन्) कभी दुःख न पावें, (ते) तेरे [समीपवर्त्ती] (ब्रह्माणः) वेद जानने वाले ब्राह्मण (यशसः=यशसाः) यशस्वी (सन्तु) होवें, और (अन्ये) दूसरे (मा=मा सन्तु) न होवें ॥२॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि ब्रह्मचर्य से आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, शिल्पविद्या, युद्धविद्या आदि सामान्य और विशेष विद्याओं में निपुण होकर अपने सभासदों को निपुण करे, और विद्वानों का सत्कार और अविद्वानों का तिरस्कार करता हुआ सदा आनन्दयुक्त रहे ॥ २ ॥

यजुर्वेद में (वर्धय, इमम्) के स्थान में [बोधय एनम्] और (ते, रिषन, उपसत्तारः) के स्थान में [च, रिषत् उपसत्ता] पाठ है ॥

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्म॒णा इ॒मे शि॒वो अ॑ग्ने सं॒वर॑णे भवा नः । स॒प॒त्न॒हाग्ने॑ अभिमाति॒जिद् भ॑व॒ स्वे गये॑ जागृह्यप्रयु॑च्छन् ॥ ३ ॥

त्वाम् । अग्ने॒ । वृ॒ण॒ते । ब्रा॒ह्म॒णाः । इ॒मे । शि॒वः । अग्ने॒ । सम्-वर॑णे । भ॒व॒ । न॒ः । स॒प॒त्न॒-हा । अग्ने॒ । अ॒भि॒मा॒ति॒-जि॒त् । भ॒व॒ । स्वे । गये॑ । जा॒गृ॒हि॒ । अप्र॑-यु॒च्छ॒न् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी राजन् ! (इमे) ये (ब्राह्मणाः) वेदवेत्ता

इति न लोपः । इन्त्स्व । दीप्यस्व । वर्धय । समर्धय ।इमम् । समीपस्थं जनम् । उत्-तिष्ठ । उत्साहवान् सन्नद्धो भव । महते । महि वृद्धौ, दीप्तौ-अति । विपुलाय । सौभगाय । भगः=धनम्-निघ० २ । १० । सु+भग-भावे अण् । सुभगत्वाय । उत्तमैश्वर्याय । मा रिषन् । रिष हिंसायाम् । कर्मण्यर्थे । मा दुःखिता भवन्तु । उपसत्तारः ।एवुल्तृचौ । पा० ३ । १ । १३३ । इति उप+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-तृच् । उपसदनशीलाः, उपासकाः । सेवकाः ब्रह्माणः । बृंहेर्नोऽच्च ।उ० ४ । १४६ । इति बृहि वृद्धौ-मनिन् । नस्य अकारः। वेदवेत्तारः । ब्राह्मणाः । यशसः । अर्शआदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति यशस्-अच् मत्वर्थे । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इत्येकवचनं बहुवचने । यशसाः । यशस्विनः ॥

३—वृणते । वृञ् संभक्तौ । संभजन्ते । स्वीकुर्वन्ति । ब्राह्मणाः ।

विद्वान् लोग (त्वा) तुझ को (वृणते) चुनते हैं, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (नः) हमारे (संवरणे) चुनाव में (शिवः) मंगलकारी (भव) हो । (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने वाला और (अभिमातिजित्) अभिमानियों का जीतने वाला (भव) हो, और (स्वे) अपने (गये) सन्तान पर वा धन पर वा घर अर्थात् अधिकार में (अप्रयुच्छन) चूक न करता हुआ, (जागृहि) जागता रह ॥ ३ ॥

भावार्थ—वेदवेत्ता चतुर सभासद् ऐसे पुरुषार्थी विद्वान् को अपना राजा वा प्रधान बनावें कि जो सब दोषों और दुष्टों को मिटाकर अपने अधिकार को सावधान होकर चलावे, जिसमें सब राजा और प्रजा आनन्दयुक्त रहें ॥३॥

यजुर्वेद में (अग्ने अभिमातिजित् भव) के स्थान में [नः अभिमातिजित् च] पाठ है ॥ ३ ॥

क्ष॒त्रेणा॑ग्ने॒ स्वेन॒ सं र॑भस्व मि॒त्रेणा॑ग्ने मित्र॒धा य॑तस्व ।
स॒जा॒तानां॑ मध्यमे॒ष्ठा राज्ञा॑मग्ने वि॒हव्यो॑ दीदिही॒ह ॥४॥

क्ष॒त्रेण॑ । अ॒ग्ने॒ । स्वेन॑ । सम् । र॒भ॒स्व॒ । मि॒त्रेण॑ । अ॒ग्ने॒ । मि॒त्र॒-धाः । य॒त॒स्व॒ । स॒-जा॒ताना॑म् । म॒ध्य॒मे॒-स्थाः । राज्ञा॑म् । अ॒ग्ने॒ । वि॒-ह॒व्यः॑ । दी॒दि॒हि॒ । इ॒ह ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी राजन् (स्वेन) अपने (क्षत्रेण) क्षत्रिय

ब्रह्म वेदः परमेश्वरो वा । ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । इति ब्रह्म-अण् । वेदविदः । ब्रह्मज्ञानिनः । **शिवः** । सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिव० । उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने, अथवा शिञ् छेदने-वन् । निपातनात् साधुः । शेरते शुभगुणा यत्र, यद्वा, शिनोति छिनत्ति दुःखानि यः । मङ्गलकारी । **संवरणे** । सद्वरणे । सम्यक् स्वीकरणे । **भवा** । भव । द्व्यचोऽतस्तिङः । पा० ६ । ३ । १३५ । इति दीर्घः । **सपत्नहा** । अ० १ । २६ । ५ । शत्रुहन्ता । **अभिमातिजित्** । अभि+मा माने कर्त्रि क्तिच्+जि क्विप्, तुक् च । अभिमानिनां जेता । **गये** । अन्त्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति गम्लृ वा गाङ् गतौ, वा ग गाने-यक् । गच्छति पितृवंशं गीयते वा । गयः=अपत्यम्—निघ० २ । २ । धनम्-निघ० २ । १० । गृहम्-निघ० ३ । ४ । अपत्ये । धने । गृहे, पदे, अधिकारे । **जागृहि** । प्रबुद्धो भव । **अप्रयुच्छन** । युच्छ प्रमादे-शतृ । अप्रमाद्यन् । सावधानो भवन् ॥

४-**क्षत्रेण** । गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः । उ० ४ । १६७ । इति क्षद

धर्म वा धन के साथ (संरम्भस्व) उत्साह कर, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधाः) मित्रों का पुष्ट करने वाला होकर (यतस्व) प्रयत्न कर। और (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (सजातानाम्) तुल्य जन्म वालों के बीच (मध्यमेष्ठाः) पंचों में बैठने वाला, और (राज्ञाम्) क्षत्रियों के बीच में (विहव्यः) विशेष करके आवाहन योग्य होकर (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—नीति कुशल राजा धर्म कार्यों में स्फूर्ति रक्खे, और हितकारियों के साथ हित करे और सदैव न्याययुक्त व्यवहार रक्खे, जिस से सब छोटे और बड़ों में प्रेम के साथ उसकी कीर्ति बढ़े ॥ ४ ॥

यजुर्वेद अध्याय २७ म० ५। में ऐसा पाठ है।

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सꣳरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व। सजातानां मध्यमस्था एधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥

(अग्ने) हे अग्नि के तुल्य तेजस्विन् विद्वन्! (क्षत्रेण) राज्य वा धन के साथ (स्वायुः = सु-आयुः) सुन्दर जीवन (सम् रभस्व) अच्छे प्रकार आरम्भ कर। (अग्ने) हे तेजस्विन्! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधेये) मित्रों के धारण करने में (यतस्व) यत्न कर। (सजातानाम्) समान अवस्था वालों में (मध्यमस्थाः) मध्यस्थ (एधि) हो, (अग्ने) हे न्याय प्रकाशक! (राज्ञाम्) राजाओं के बीच (विहव्यः+सन्) विशेषकर बुलाने योग्य होकर (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशित हो ॥

गतिहिंसनयोः, रक्षणे, च-त्रप्रत्ययः। बलेन, क्षत्रियत्वेन। धनेन-निघ० २। १०। **अग्ने**। तेजस्विन् विद्वन्। **सम्-रभस्व**। रभ राभस्ये = उत्सुकीभावे। संरम्भं उत्साहं कुरु। **मित्रेण**। सुहृद्गणेन। **मित्रधाः**। मित्र+धाञ्-क्विप् मित्राणां पोषकः सन्। **यतस्व**। यती प्रयत्ने। प्रयत्नं कुरु ॥ **सजातानाम्**। समानजन्मनाम्। तुल्यावस्थानाम्। **मध्यमेष्ठाः**। मध्ये भवो मध्यमः। मध्यान्मः पा० ४। ३। ८। इति मध्य-म। ष्ठा गति निवृत्तौ-क्विप्। घा क्विप् तत्पुरुषे, कृति बहुलम्। पा० ६। ३। १४। इत्यलुक्। सुषामादिषु च। पा० ८। ३। ९८ इति षत्वम्। मध्यमेषु न्यायकारिषु प्रधानेषु स्थितः। **राज्ञाम्**। ईश्वराणां क्षत्रियाणां मध्ये। **विहव्यः**। ह्वः सम्प्रसारणं च न्यभ्युपविषु। पा० ३। ३। ७२। इति ह्वेञ् आह्वाने अप् संप्रसारणं च। ततः। भवे छन्दसि। पा० ४। ४। ११०। इति यत्। विविधमाह्वातव्यः। **दीदिहि**। म० १। दीप्यस्व। **इह**। अत्र ॥

अति॒ निहो॒ अति॒ सृधोऽत्यचि॑त्ती॒रति॒ द्वि॒षः । विश्वा॒ ह्य॑ग्ने दुरि॒ता तर॒ त्वमथा॒स्मभ्यं॑ स॒हवी॑रं र॒यिं दाः॥५॥

अति॑ । निहः॑ । अति॑ । सृधः॑ । अति॑ । अचि॑त्तीः । अति॑ । द्वि॒षः॑ । विश्वा॑ । हि । अ॒ग्ने॒ । दुः॒-इ॒ता । त॒र॒ । त्वम् । अथ॑ । अ॒स्मभ्य॑म् । स॒ह-वी॑रम् । र॒यिम् । दाः॒ ॥५॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! [(अति) अत्यन्त (निहः) शत्रु-नाशक शूर होकर। अथवा] (निहः) नीच गति वालों को (अति=अतीत्य) लांघकर, (सृधः) हिंसकों को (अति) लांघकर, (अचित्तीः) पापबुद्धि प्रजाओं को (अति) लांघ कर, और (द्विषः) द्वेष करने वालों का (अति) तिरस्कार करके, (त्वम्) तू (हि) ही (विश्वा=विश्वानि) सब (दुरिता=०-तानि) संकटों को (तर) पारकर, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीरम्) वीर पुरुषों के सहित (रयिम्) धन (दाः) दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा सावधानी से प्रजा के सब क्लेशों को हरे, और ऐसा प्रयत्न करे कि प्रजा के सब पुरुष उत्साही, शूर, वीर और धनाढ्य हों ॥ ५ ॥

२—इस मन्त्र का पाठ यजुर्वेद २७ । ६ । में ऐसा है ।

अति॒ निहो॒ अति॒ स्रिधोऽत्यचि॑त्ति॒मत्यरा॑तिमग्ने । विश्वा॒ ह्य॑ग्ने दुरि॒ता सह॒स्वाथा॒स्मभ्य॑ꣳ स॒हवी॑राꣳ र॒यिं दाः ॥१॥

(अग्ने) हे तेजस्वि राजन् ! (अति निहः) अत्यन्त शूर होकर (स्रिधः) दुष्टों को (अति) हटाकर, (अचित्तिम्) अज्ञान को (अति) हटाकर, (अरातिम्)

५—अति । अतिशयेन । निहः । निहन्तीति निहः । नि+हन—ड । शत्रुहन्ता । शूरः सन् । अग्नेर्विशेषणम् । अथवा । अति । अतीत्य । अतिक्रम्य । निहः । नि+ओहाङ् गतौ-क्विप् । आतो धातोः । पा० ६ । ४ । १४० । इति शसि आकारलोपः । निकृष्टगतीन् दुष्टान् । सृधः । सृध स्रध वा शोषणे कुत्सितकर्मणि वा-क्विप् । छान्दसो धातुः । देहशोषकान् । कुत्सिताचारान् । अचित्तीः । अ+चित संचेतने-क्तिन् । अशोभनबुद्धीः । शत्रुसेनाः ।

कंजूसपन को (अति) हटाकर (विश्वा दुरतानि) सब विघ्नों को (सदस्व) दबावे, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीराम्) वीरों से युक्त सेना और (रयिम्) धन (दाः) दे ॥

१—(सुधः) के स्थान पर सायणभाष्य में (स्वधः) पद है ॥

सूक्तम् ७ ॥

१-५ ॥ ईश्वरो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥१॥

अघ-द्विष्टा । देव-जाता । वीरुत् । शपथ-योपनी । आपः ।
मलम्-इव । प्र । अनैक्षीत् । सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अघद्विष्टा) पाप में द्वेष [अप्रीति] करने वाली (देवजाता) विद्वानों में प्रसिद्ध (वीरुत्) ओषधि [ओषधि के समान फैली हुयी ईश्वर शक्ति] (शपथयोपनी) शाप [क्रोध वचन को] हटाने वाली है ।

अज्ञानानि । **द्विषः** । द्विष-क्विप् । अप्रीतिकरान् । द्वेष्टॄन् । **विश्वा** । विश्वानि सर्वाणि । **दुरिता** । दुर् दुष्टमितं गमनमनेन । दुर्+इण् गतौ-भावे क्त । पापानि । संकटानि । **तर** । तॄ तरणे, अभिभवे । अभिभव । **सहवीरम्** । तेन सहेति तुल्ययोगे । पा० ६ । २ । २८ इति तुल्यक्रियायोगे बहुव्रीहिः । वोपसर्जनस्य । पा० ६ । ३ । ८२ । इति सहस्य सभावो विकल्पत्वात् न प्रवर्त्तते । वीरैः सहितम् । **रयिम्** । अ० १ । १५ । २ । रीङ् गतौ-इप्रत्ययः । धनम्-निघ० । २। १० । **दाः** । डुदाञ् विधिलिङि छान्दसं रूपम् । त्वं दद्याः ॥

१—**अघद्विष्टा** । अघ+द्विष अप्रीतौ—क्त । अघं पापं द्विष्टं तिरस्कृतं यया सा । पापद्वेषिणी । **देवजाता** । देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धा **वीरुत्** । अ० १ । ३२ । १ । वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात्-निरु० ६ । ३ । विरोहणशीला । ओषधिः । लता । **शपथयोपनी** । शीङ्शपिरुगमि० । उ० । ३ । १३ ।

उस ने (मत् अधि) मुझ से (सर्वान्) सब (शपथान्) शापों [कुवचनों] को (प्र+अनैक्षीत्) धो डाला है, (इव) जैसे (आपः) जल (मलम्) मल को ॥१॥

भावार्थ—जैसे उत्तम ओषधि से शरीर के रोग मिट जाते, और जल से मलीन वस्त्र आदि शुद्ध होते हैं, वैसे ही पापी कुक्रोधी मनुष्य भी ब्रह्मज्ञान द्वारा पापों से छूट कर शुद्धात्मा हो जाते और ईश्वर के उपकारों को विचार कर उपकारी बनते और सदा आनन्द भोगते हैं ॥१॥

यश्च॑ साप॒त्नः श॒पथो॑ जा॒म्याः श॒पथ॑श्च॒ यः।
ब्र॒ह्मा यन्म॒न्युतः॒ शपा॑त् सर्वं॒ तन्नो॑ अधस्प॒दम् ॥२॥

यः। च॒। सा॒प॒त्नः। श॒पथः॑। जा॒म्याः। श॒पथः॑। च॒। यः। ब्र॒ह्मा। यत्। म॒न्यु॒तः। शपा॑त्। सर्व॑म्। तत्। नः॒। अ॒धः॒ऽप॒दम् ॥२॥

भाषार्थ—(च) और (यः) जो (सापत्नः) वैरियों का किया हुआ (शपथः) शाप [क्रोधवचन], (च) और (यः) जो (जाम्याः) कुल स्त्री का (शपथः) शाप है, और (ब्रह्मा) वेदवेत्ता ब्राह्मण (मन्युतः) क्रोध से

इति शप आक्रोशे-अथ। शुप विमोहने-करणे ल्युट्। शापस्य क्रोधवचनस्य फलस्य विमोहनी निवारयित्री। आपः। जलानि। मलम्। मृज्यते शोध्यते यत्। मृजेष्टिलोपश्च। उ० १। ११०। इति मृज शोधने-अलच्, टिलोपश्च। ङीप्। किट्टम्। स्वेदपङ्कादिकम्। पापम्। प्र+अनैक्षीत्। णिजिर् शौचपोषणयोः-छान्दसे लुङि रूपम्। प्रकर्षेण अक्षालीत्। मत्। मत्तः॥

२—सापत्नः। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति सह+पत गतौ, ऐश्वर्ये च-न प्रत्ययः, सहस्य सः। ततः सम्बन्धे-अण्। सपत्नसम्बन्धी। शात्रवः। शपथः। म० १। आक्रोशः। क्रोधवचनम्। जाम्याः। निमो मिः। उ० ४। ४३। इति या गतौ-मि प्रत्ययः, यकारस्य जकारः। याति कार्याणि सा जामिः स्वसा कुलस्त्री वा। अथवा। वसिवपियजि०। उ० ४। १२५। इति जम भक्षणे गतौ च-इञ्, अथवा। जन-इञ्। जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यं जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः-नि० ३। ६। जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वासमानजातीयस्य

(यत्) जो कुछ (शपात्) शाप दे [क्रोध वचन कहे], (तत्) वह (सर्वम्) सब (नः) हमारे (अधस्पदम्) उद्योग के नीचे रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि हम से कोई वेद विरुद्ध खोटा कर्म हो जावे, जिस से हमारे शत्रु, हमारी स्त्रियां, हमारे ब्राह्मणादि विद्वान् लोग क्रुद्ध हों, तब हम पूरा पूरा प्रयत्न करें कि हमारे शिष्टाचार और वैदिक कर्म से शापमोचन हो जावे, अर्थात् वे सब हम से पूर्ववत् फिर प्रीति करने लगें ॥२॥

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥

दिवः । मूलम् । अव-ततम् । पृथिव्याः । अधि । उत्-ततम् ।
तेन । सहस्र-काण्डेन । परि । नः । पाहि । विश्वतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो (मूलम्) मूल [तत्वज्ञान] (दिवः) सूर्यलोक से (अवततम्) नीचे को फैला हुआ है, और जो (पृथिव्याः अधि) पृथिवी पर से (उत्ततम्) ऊपर को फैला है। [हे ईश्वर !] (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) सहस्रों शाखा वाले [तत्त्वज्ञान] के द्वारा (विश्वतः) सब प्रकार से (नः) हमारी (परि) सब ओर (पाहि) रक्षा कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य द्वारा वृष्टि, प्रकाश आदि भूमि पर आते, और भूमि से जल सूर्यलोक वा मेघमण्डल में जाता, और सब छोटे बड़े लोक परस्पर आकर्षण

वोपजनः-निरु० ४ । २० । बालिशस्य मूर्खस्य, अथवा असमानजातीयस्य असपिण्डस्य । **ब्रह्मा** । अ० २ । ६ । २ । वेदवेत्ता । ब्राह्मणः । **मन्युतः** । पञ्चम्यास्तसिल् । पा० ५ । ३ । ७ । इति तसिल् । क्रोधात् । **नः** । अस्माकम् । **अधस्पदम्** । अधःशिरसी पदे । पा० ८ । ३ । ४७ । इति विसर्गस्य सत्वम् । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पद स्थैर्ये, गतौ च-अच् । पदम् = व्यवसायः, पादः, चिह्नम्-इति शब्दकल्पद्रुमे । पदस्य व्यवसायस्य उद्योगस्य अधस्तात् अधोभागे, असमर्थं भवतु ॥

३—दिवः । द्युलोकात् । सूर्यमण्डलात् । **मूलम्** । मवते बध्नातीति । मूशक्यविभ्यः क्लः । उ० ४ । १०८ । इति मूङ् बन्धने-क्ल । अथवा । मूल प्रतिष्ठायां रापणे

और धारण रखते हैं। इसी प्रकार ईश्वरीय अनन्त नियमों को देख कर सब प्रजागण राज नियमों में चल कर परस्पर उपकार करें ॥

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम्।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥

परि। माम्। परि। मे। प्र-जाम्। परि। नः। पाहि। यत्। धनम्। अरातिः। नः। मा। तारीत्। मा। नः। तारिषुः। अभि-मातयः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(माम्) मेरी (परि=परितः) सब प्रकार, (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा [पुत्र, पौत्र, भृत्य आदि] की (परि) सबप्रकार और (नः) हमारा (यत्) जो (धनम्) धन है [उसकी भी] (परि) सब प्रकार (पाहि) तू रक्षा कर। (अरातिः) कोई अदानी, कंजूस, पुरुष (नः) हमें (मा तारीत्) न दबावे, और (अभिमातयः) अभिमानी लोग भी (नः) हमें (मा तारिषुः) न दबावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, और धनरक्षा करके दुष्टों को न्याययुक्त दण्ड देकर सदा आनन्द से रहें ॥ ४ ॥

धा-क। अधिकारणम्। तत्त्वज्ञानम्। अवततम्। अव+तनु विस्तारे-क। अधोमुखं प्रसृतम्। अधि। उपरि। उत्ततम्। उत्+तनु-क। ऊर्ध्वम् उन्नत विस्तृतम्। सहस्रकाण्डेन। क्रादिभ्यः कित्। उ० १। ११५। इति कण शब्दे गतौ च-ड, डस्य नेत्त्वम्। अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति। पा० ६।४।१५। इति दीर्घः। अपरिमितपर्वयुक्तेन। विश्वतः। भीत्रार्थानां भयहेतुः। पा० १। ४। २५। इत्यपादानसंज्ञायाम्। पञ्चम्यास्तसिल्। पा० ५। ३। ७। इतितसिल्। सर्वस्मात् कष्टात् ॥

४—प्रजाम्। प्रजायते सा प्रजा। उपसर्गे च संज्ञायाम्। पा० ३। २। ९९। प्र+जन जनने-ड। पुत्रपौत्रभृत्यादिसन्ततिम्। जनम्। अरातिः। अ० १। १८। १। अदानशीलम्। कृपणम्। शत्रुम्। नः। अस्मान्। मा तारीत्। तॄ तरणे, अभिभवे-लुङ्। न माङ्योगे। पा० ६। ४। ७४। इत्यडभावः। माभिभवतु। मातिक्रामतु। मा तारिषुः। लुङि पूर्ववद् अडभावः। मा हिंसन्तु। अभिमातयः। अ० २। ६। ३। अभिमानिनो जनाः। शत्रवः ॥

शुप्तारमेतु शुपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

शुप्तारम् । एतु । शुपथः । यः । सु-हार्त् । तेन । नः । सह ।
चक्षुः-मन्त्रस्य । दुः-हार्दः । पृष्टीः । अपि । शृणीमसि ॥५॥

भाषार्थ—(शपथः) [हमारा] क्रोधवचन (शप्तारम्) कुवचन बोलने वाले को (एतु) प्राप्त हो, और (यः) जो (सुहार्त्) अनुकूल हृदय वाला [शुभचिन्तक] है, (तेन) उस [मित्र] के साथ (नः) हमारा (सह = सह-वासः) सहवास हो। (चक्षुर्मन्त्रस्य) आंख से गुप्त बात करने वाले, (दुर्हार्दः) दुष्टहृदय वाले पुरुष की (पृष्टीः) पसलियों को (अपि) ही (शृणीमसि = ०-मः) हम तोड़ डालें ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा को उचित है कि निन्दकों पर क्रोध और शुभचिन्तक सत्पुरुषों का आदर करे, और जो अनिष्टचिन्तक कपटी छली हों उनको भी दण्ड देता रहे ॥ ५ ॥

(चक्षुर्मन्त्रस्य) समासान्त पद को पद पाठ के विरुद्ध सायणाचार्य ने [मन्त्रस्य चक्षुः] दो पद मान कर व्याख्या की है वह असाधु है। यह समस्त पद (दुर्हार्दः) पद का विशेषण है। इसका प्रयोग अ० १६ । ४५ । १ । में इस प्रकार है।

५—**शप्तारम्** । शापकर्तारम् । अनीत्या कटुवक्तारम् । **एतु** । गच्छतु । प्राप्नोतु । **शपथः** । म० २ । आक्रोशः । क्रोधवचनम् । **सुहार्त्** । हार्दम् आनुकूल्यं करोति हार्दयतीति । हार्दयतेः क्विपि णिलोपे रूपम् । शोभनहृदयः । सुमनस्कः । अनुकूलकारी । **तेन** । पूर्वोक्तेन सुहृदयेन मित्रेण । **सह** । षह क्षमायाम्-अच् । संयोगः । सम्बन्धः । **चक्षुर्मन्त्रस्य** । चक्षेः शिच्च । उ० २ । ११६ । इति चक्षङ् कथने दर्शने च-उसि । शित्वात् ख्याञादेशाभावः । मत्रि गुप्तभाषणे-अच् घञ् वा । चक्षुषा नेत्रेण मन्त्रो गुप्तभाषणं परामर्शो यस्य तस्य । नेत्रसङ्केतेन विचारशीलस्य पिशुनस्य । **दुर्हार्दः** । सुहार्त् शब्दवद् व्युत्पत्तिः । दुष्टहृदयस्य । क्रूरपुरुषस्य । **पृष्टीः** । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥ (अञ्जन) हे आंखें खोल देने वाले ! तू आंख से गुप्त बात करने वाले दुष्टहृदय वाले की पसलियां ही (शृण) तोड़ दे ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—५ ॥ ब्रह्म देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३, ५ पंक्तिः ॥
पौरुषमुपदिश्यते-पौरुष का उपदेश किया जाता है ॥

उद॑गातां भग॑वती विचृतौ नाम॒ तार॑के ॥
वि क्षे॑त्रियस्य॑ मुञ्चतामधुमं पाशमुत्तु॒मम् ॥ १ ॥

उत् । अगाताम् । भगवती इति भग॑-वती । वि-चृतौ॑ । नाम॑ तार॑के॒ इति । वि । क्षे॒त्रियस्य॑ । मुञ्चताम् । अधमम् । पाशम् । उ॒त्-तमम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(भगवती=०—त्यौ) दो ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्धकार से] छुड़ाने हारे (नाम) प्रसिद्ध (तारके) तारे [सूर्य और चन्द्रमा]

१७४। इति पृषु सेचने-क्विच्। पर्शुस्थीनि । पार्श्वावयवान्। शृणीमसि । शॄ हिंसायाम्। इदन्तो मसिः। पा० ७। १। ६४। इति इकारः। शृणीमः। विनाशयामः॥

१—उदगाताम् । उत् + इण् गतौ-लुङ्। इणो गा लुङि। पा० २। ४। ४५। इति गादेशः। उदितेऽभूताम्। भगवती । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् पा० ५। २। ९४। इति भग-मतुप् नित्ययोगे। मस्य वः। ततो ङीप्। सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा०। पा० ७। १। ३९। इति पूर्वसवर्णदीर्घः। भगवत्यौ। ऐश्वर्यवत्यौ। पूज्ये। विचृतौ। वि + चृती हिंसाग्रन्थनयोः-क्विप्। अन्धकाराद् विमोचयित्र्यौ। नाम। प्रसिद्धे। तारके। तरति तारयति वान्धकारात् तारका। तॄ-णिच्-ण्वुल्। टाप्। तारका ज्योतिषि। वा० पा० ७। ३। ४५। इति न अत इत्त्वम्। द्वे नक्षत्रे। ज्योतिषी। सूर्यचन्द्रौ। क्षेत्रियस्य।

(उद्गाताम्) उदय हुये हैं। वे दोनों (क्षेत्रियस्य) शरीर वा वंश के दोष वा रोग के (अधमम्) नीचे और (उत्तमम्) ऊंचे (पाशम्) पाश को (वि+मुच्यताम्) छुड़ा देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और चन्द्रमा संसार में उदय होकर अपने ऊपर और नीचे के अन्धकार का नाश करके प्रकाश करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य अपने छोटे और बड़े मानसिक, शारीरिक और वांशिक रोगों तथा दोषों को निवृत्त करके स्वस्थ और प्रतापी हों ॥ १ ॥

अपे॒यं रात्र्यु॑च्छ॒त्वपो॑च्छन्त्वभि॒कृत्व॑रीः ।
वी॒रुत् क्षे॑त्रिय॒नाश॒न्यप॑ क्षेत्रि॒यमु॑च्छतु ॥ २ ॥

इ॒यम् । रात्री॑ । उ॒च्छ॒तु॒ । अप॑ । उ॒च्छ॒न्तु॒ । अ॒भि॒-कृत्व॑रीः ।
वी॒रुत् । क्षे॒त्रि॒य॒-नाश॑नी । अप॑ । क्षे॒त्रि॒यम् । उ॒च्छ॒तु॒ ॥२॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (रात्री) रात (अप+उच्छतु) नष्ट हो जावे, (अभि-कृत्वरीः = ०—त्वर्यः) कतरने वाली वा हिंसाशील [कुवासनायें]

क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः। पा० ५। २। ९२। इति क्षेत्रियशब्दो निपात्यते परक्षेत्रे चिकित्स्य इत्यर्थे। यद्वा। क्षेत्र-घच्प्रत्ययः। परस्मिन् पुत्रपौत्रादिकस्य शरीरे प्रतीकार्यस्य महाप्रचण्डस्य रोगस्य। यद्वा। क्षेत्रे स्वकीये देहे वंशे वा जातस्य रोगस्य दोषस्य वा। **विमुञ्चताम्**। मुचेर्लोटि। शे मुचादीनाम्। पा० ७। १। ५९। इति नुम्। विमोचयताम्। **अधमम्**। अधरशरीरस्थितम् **उत्तमम्**। ऊर्ध्वभागे स्थितम्। **पाशम्**। पश बन्धे ग्रन्थे वा-घञ्। बन्धनम्। ग्रन्थिम् ॥

२—**इयम्**। पुरोवर्त्तिनी। **रात्री**। अ० १। १६। १। रा दाने-त्रिप्। रात्रेश्चाजसौ। पा० ४। १। ३१। इति ङीप्। निशा। रात्रिरूपोऽन्धकारः। **अप+उच्छतु**। उच्छी विवासे=समाप्तौ, अकर्मकः, वर्जने, सक०। समाप्ता भवतु। विनश्यतु। **अप+उच्छन्तु**। दूरे गच्छन्तु। **अभिकृत्वरीः**। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। इति अभि+कृञ् हिंसायाम्, यद्वा, डुकृञ्

(अप+उच्छन्तु) निकल जावें। (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे रात्रि के समाप्त होने पर आलस्य आदि का नाश होता, और जैसे औषध से शरीर रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्यों को अपने और अपने वंश के अज्ञान का नाश करके ज्ञान के प्रकाश में आनन्दित रहना चाहिये ॥ २ ॥

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या। वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥

बभ्रोः। अर्जुन-काण्डस्य। यवस्य। ते। पलाल्या। तिलस्य। तिल-पिञ्ज्या। वीरुत्। क्षेत्रिय-नाशनी। अप। क्षेत्रियम्। उच्छतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (ते) तेरे [दिये] (बभ्रोः) पोषण करने वाले, (अर्जुनकाण्डस्य) श्वेत स्तम्भ [डांठा] वाले (यवस्य) यव अन्न की (पलाल्या)

करणे—क्वनिप्, तुगागमः। यद्वा। कृती छेदने-क्वनिप्। वनो र च। पा० ४। १। ७। ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् (?) वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः। व्यभिचारशीलाः कर्तनशीलाः कुवासनाः **वीरुत्**। म० २। ७। १। ओषधिः। लता। **क्षेत्रियनाशनी**। म० १। स्वकीये शरीरे वंशे वा जातस्य दोषस्य नाशयित्री। **क्षेत्रियम्**। म० १। शरीरस्थं दोषम्। **अप+उच्छतु**। सर्वथा वर्जयतु नाशयतु ॥

३—**बभ्रोः**। कुर्भ्रश्च। उ० १। २२। इति भृञ् धारणपोषणयोः-कु, द्वित्वं च। बिभर्ति भरति वा बभ्रुः। पोषकस्य। **अर्जुनकाण्डस्य**। अर्जेर्णिलुक् च। उ० ३। ५८। इति अर्ज उपार्जने=अलब्धसम्पादने-उनन्। अर्जुनम्=रूपम्-निघ० ३। ७। ततः कादिभ्यः कित्। उ० १। ११५। इति कण शब्दे गतौ च-ड। डस्य इत्वं न। अनुनासिकस्य क्वि०। पा० ६। ४। १५। इति दीर्घः। श्वेतस्तम्भस्य। परिपक्वस्य नवीनस्य चेति यावत्। **यवस्य**। यूयते

पालन शक्ति से और (तिलस्य) तिल की (तिलपिञ्ज्या) चिकनाई से (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के रोग नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे परिपक्व और नवीन यव, तिल आदि पदार्थों के यथावत् उपयोग से और औषधों के सेवन से शारीरिक बल स्थिर रहता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम विद्या के प्रकाश से आत्मिक दोषों की निवृत्ति करके आनन्द प्राप्त करें ॥ ३ ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥

नमः । ते । लाङ्गलेभ्यः । नमः । ईषा-युगेभ्यः । वीरुत् । क्षेत्रिय-नाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (लाङ्गलेभ्यः) हलों [की दृढ़ता] के लिये (नमः ते=नमस्ते) तुझे नमस्कार है, और (ईषायुगेभ्यः) हरस [हल की लंबी लकड़ी] और जूओं [की दृढ़ता] के लिये (नमः) नमस्कार है ।

बलेन । यु मिश्रणे-अप् । स्वनामख्यातधान्यस्य । धान्यराजस्य । **ते** । तव । ईश्वरदत्तस्य । **पलाल्या** । तमिविशिविडिमृणिकुलिकपिपलिपञ्चिभ्यः कालन् । उ० १ । ११८ । इति पल रक्षणे-कालन् । ङीप् । पालयतीति पलाली । पालनशक्त्या । **तिलस्य** । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति तिल गतौ, स्निग्धीभावे च-क । स्वनामख्यातशस्यस्य । होमधान्यस्य । **तिलपिञ्ज्या** । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति पिजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु-इन् । तिलस्य स्नेहशक्त्या । अन्यद् गतम् ॥

४—**नमस्ते** । नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च । पा० ३ । २ । १६ । इति चतुर्थी । तुभ्यं नमस्कारः । **लाङ्गलेभ्यः** । लङ्गेर्वृद्धिश्च । उ० १ । १०८ इति लगि गतौ-कलच्, वृद्धिश्च । लङ्गन्ति प्राप्नुवन्ति, अन्नादिकं येन तल्लाङ्गलम् । हलानां हिताय दृढ़त्वाय । **ईषायुगेभ्यः** । ईष गतिहिंसादर्शनेषु-क । टाप् ।

(क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के दोष वा रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे किसान लोग हल आदि उपयोगी और दृढ़ सामग्री के प्रयोग से अन्न उत्पन्न करते हैं, वैसे ही सब मनुष्य परमेश्वर के नियमों को साक्षात् करके उद्योग के साथ प्रयत्न से शरीर और अन्तःकरण की दृढ़ता करके उपकारी बनें और सदा आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः । नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

नमः । सनिस्रस-अक्षेभ्यः । नमः । सम्-देश्येभ्यः । नमः । क्षेत्रस्य । पतये । वीरुत् । क्षेत्रिय-नाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥५॥

भाषार्थ—(सनिस्रसाक्षेभ्यः) डबडबाती हुई आंखें वालों [रोगों से पीड़ित दीनों] के लिये (नमः) अन्न हो, और (संदेश्येभ्यः) यथार्थ दानशीलों के लिये (नमः) अन्न हो । (क्षेत्रस्य) खेत के (पतये) स्वामी के लिये (नमः) अन्न हो । (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) औषध (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ ५ ॥

ईषा लाङ्गलदण्डः । उञ्छादीनां च । पा० ६ । १ । १६० । इति युज योगे-घञ्, अगुणत्वं निपात्यते । युज्येते बलीवर्दौ अस्मिन्निति युगो युगं वा रथहलाद्यङ्गम् । ईषाश्च युगानि च तेभ्यः । हलस्य दण्डयुगानां दृढत्वाय । अन्यद् गतम् ॥

५—नमः । णमु प्रह्वत्वे-असुन् । अन्नम्-निघ० २ । ७ । **सनिस्रसाक्षेभ्यः** । स्रंसु गतौ-यङ्न्ताद् घञ्, अतोलोपयलोपौ । नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसु० । पा० ७ । ४ । ८४ । इति नीग् आगमः । छान्दसो ह्रस्वः । सनीस्रस्यते-इति सनीस्रसम् । सनीस्रसानि सनीस्रस्यमानानि अतिशयेन विशीर्यमाणानि अक्षाणि, नेत्राणि येषां तेभ्यस्तथाभूतेभ्यः । कुष्ठादिरोगेण पीड़ितनेत्रेभ्यो दीनेभ्यः ।

भावार्थ—सब मनुष्य ऐसा सुप्रबन्ध करें कि दीन दुःखियों का यथावत् पालन हो, उद्योगी दानी पुरुष और किसान लोग अन्न आदि प्राप्त करें। और जैसे परमेश्वर ने औषध आदि उत्पन्न करके उपकार किया है, उसी प्रकार सब को परस्पर उपकारी बनना चाहिये ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(संदेश्येभ्यः) पद के स्थान पर सायणभाष्य में [संदेशेभ्यः] की व्याख्या है ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—५ ॥ ईश्वरो देवता ॥ १, पूर्वार्धो द्विपदा त्रिष्टुप्, उत्तरार्धो द्विपदाऽनुष्टुप्, २—५ अनुष्टुप् ॥

मनुष्य आत्मानमुन्नयेत्-मनुष्य अपने को ऊंचा करे ॥

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥

दश-वृक्ष । मुञ्च । इमम् । रक्षसः । ग्राह्याः । अधि । या । एनम् । जग्राह । पर्व-सु । अथो इति । एनम् । वनस्पते । जीवानाम् । लोकम् । उत् । नय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दशवृक्ष) हे प्रकाश वाले वा दर्शनीय विद्वानों के क्लेश काटने वाले वा स्वीकार करने वाले, अथवा, हे दस दिशाओं में सेवनीय परमेश्वर !

संदेश्येभ्यः । सम्+दिश दाने आज्ञापाने च-घञ् । सन्देशः सम्यग्दानम् । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति यत् । यथाशास्त्रं दानकुशलानां हिताय । **क्षेत्रस्य** । दादिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० । इति क्षि ऐश्वर्यक्षयनिवासगतिषु त्रन् । क्षयति ऐश्वर्यहेतुर्भवति । अथवा । नाशयति दरिद्रतामिति क्षेत्रम् । शस्योत्पत्तिस्थानस्य । केदारस्य । देहस्य । **पतये** । पा रक्षणे-डति । रक्षकाय । स्वामिने । शिष्टं व्याख्यातम् ॥

१—**दशवृक्ष** । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति दश दशि दीप्तौ, दर्शने, दंशने च-कनिन्, पक्षे नकारलोपः । स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् ।

(इमम्) इस पुरुष को (रक्षसः) राक्षस [दुष्ट अज्ञान] की (ग्राह्याः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया रोग] से (अधि) सर्वथा (मुञ्च=मोचय) छुड़ादे, (या) जिस [पीड़ा] ने (एनम्) इस [पुरुष] को (पर्वसु) सब जोड़ों में (जग्राह) पकड़ लिया है। (अथो) और (वनस्पते) हे वननीय, सेवनीय सत्पुरुषों के पति [रक्षक]! (एनम) इस [पुरुष] को (जीवानाम्) जीवधारियों के (लोकम्] संसार में (उन्नय) ऊंचा उठा ॥ १ ॥

भवार्थ—सब चर और अचर के सेवनीय और सत्पुरुषों के रक्षक परमेश्वर के उपकारों पर दृष्टि करके मनुष्य अपने शारीरिक और मानसिक क्लेशों और विघ्नों को हटाकर सदा अपनी उन्नति करे ॥ १ ॥

१-सायणभाष्य में (दशवृक्ष) पद का अर्थ-"पलाश, उदुम्बर आदि दश वृक्षों के खंडों से बनाई हुई मणि"-किया है ॥

२-ऐसा ही प्रयोग अथर्ववेद ३।११।१। में आया है।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्।

(यदि) जो (एतद्) इस समय (एनम्) इस पुरुष को (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा ने (जग्राह) पकड़ लिया है, (इद्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि [के समान तेजस्वी विद्वान्] (तस्याः) उस [पीड़ा] से (एनम्) इस पुरुष को (प्रमुमुक्तम्) तुम छुड़ाओ ॥

उ० ३।६६। इति व्रश्चू छेदने स प्रत्ययः कित्। अथवा। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३।१।१३५। इति वृक्ष वरणे क। वृश्चति क्लेशम्, वृक्षते वृणोति स्वभक्तान्, व्रियते वा सर्वैः स वृक्षः। दशानां दीप्यमानानां दर्शकानां दर्शनीयानां विदुषां [अथवा दंशकानां दुष्टस्वभावानामपि] क्लेशछेदक स्वीकारक वा। अथवा दशसु दिक्षु स्वीकरणीय। **मुञ्च**। मोचय। **इमम्**। जीवम्। माम् इत्यर्थः। **रक्षसः**। राक्षसस्य, अज्ञानस्य। **ग्राह्याः**। विभाषा ग्रहः। पा० ३।१। १४३। इति ग्रह आदाने-ण। जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् पा० ४। १।६३। इति ङीप्। यद्वा। वसिवपियजि०। उ० ४। १२५। इति ग्रह-इञ्। गृह्णातीति ग्राहो ग्राही ग्राहिर्वा जलजन्तुविशेषो वा। ग्रहणशीलपीड़ायाः सकाशात्। **जग्राह**। गृहीतवती। **पर्वसु**। स्नामदिपद्यर्तिपॄशकिभ्यो वनिप्। उ० ४। ११३। इति पॄ पूर्तौ पालने च-वनिप्। शरीरग्रन्थिषु। **अथो एनम्**। ओत्। पा० १।

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् ।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

आ । अगात् । उत् । अगात् । अयम् । जीवानाम् । व्रातम् । अपि । अगात् । अभूत् । ऊं इति । पुत्राणाम् । पिता । नृणाम् । च । भगवत्-तमः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [प्राणी] (आ+अगात्) आया है, (उत् अगात्) ऊपर आया है, (जीवानाम्) जीवितों [पुरुषार्थियों] के (व्रातम्) समूह में (अपि) भी (अगात्) प्राप्त हुआ है। वह (पुत्राणाम्) पुत्रों का (पिता) पिता (च) और (नृणाम्) मनुष्यों में (भगवत्तमः) अत्यन्त ऐश्वर्यवान् (उ) अवश्य (अभूत्) हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य ही जीवित होते हैं, इस से मनुष्य संसार में जन्म पाकर ब्रह्मचर्य सेवन से विद्या ग्रहण करें, और पुरुषार्थियों के समान पुरुषार्थी होकर पुत्रादि सब प्रजा का पालन पोषण करके महाप्रतापी और यशस्वी होवें ॥ २ ॥

---

१ । १६ । इत्योदन्तो निपातः प्रगृह्यः । **वनस्पते** । अ० १ । १२ । ३ ॥ वन+पतिः सुट् च । वनस्य संभजनीयस्य शास्त्रस्य पालक-इति श्रीमद् दयानन्द भाष्ये-यजु०२७ । २१ । वनानां पाता वा पलयिता वा वनं वनोतेः-निरु० ८ । ३ ॥ हे सेवनीयगुणस्य रक्षक परमेश्वर । **जीवानाम्** । जीवतीति जीवः । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति जीव प्राणे-क । प्राणिनाम् । **लोकम्** । लोक ईक्षे-घञ् । भुवनम् स्थानम् । **उन्नय** । ऊर्ध्वं प्रापय । द्विकर्मको धातुः ॥

२—**आ+अगात्** इण् गतौ-लुङ । आगतवान् । **उत्+अगात्** । उदस्थात् । संचारक्षमोऽभूत् । **जीवानाम्** । जीवितानां पुरुषार्थिनाम् । **व्रातम्** । भृमृदृशियजि० । उ० ३ । ११० । इति वृञ् वरणे-अतच् पृषोदरादिः । यद्वा, व्रतं कर्म-निघ० २ । १ । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति व्रत-अण । व्राताः, मनुष्याः-निघ० २ । ३ । समूहम् । **पुत्राणाम्** ।

अधीतीरध्यंगादुयमधिं जीवपुरा अंगन् ।
शतं ह्य॑स्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

अधि-इतीः । अधि । अगात् । अयम् । अधि । जीव-पुराः ।
अगन् । शतम् । हि । अस्य । भिषजः । सहस्रम् । उत ।
वीरुधः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयम्) इस पुरुष ने (अधीतीः) अध्ययन योग्य शास्त्रों को (अधि + अगात्) अध्ययन किया है, और (जीवपुराः) प्राणियों के पुरों वा नगरों को (अधि अगन्) जान लिया है। (हि) क्योंकि (अस्य) इस [पुरुष] के (शतम्) सौ [बहुत से] (भिषजः) वैद्य, (उत) और (सहस्रम्) सहस्र [बहुत से] (वीरुधः) औषध हैं ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य वेदादि शास्त्रों के अध्ययन, मनुष्यों में निवास, विद्वानों के सत्संग, और पदार्थों के गुणों का बोध करने से संसार में उन्नति करते हैं ॥ ३ ॥

अ० १ । ११ । ५ । सुतानाम् । सन्तानानाम् । नृणाम् । नयतीति ना । नयतेर्डिच्च । उ० २ । १०० । इति णि प्रापणे-ऋ प्रत्ययः, स च डित् । नृ च । पा० ६ । ४ । ६ । इति नामि दीर्घभावो विकल्पत्वात् । नेतॄणाम् । पुरुषाणाम् । भगवत्तमः । अतिशायने तमबिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति भगवत्+तमप् । अतिशयेन भगवान् ऐश्वर्यवान् ॥

३—अधीतीः । अधि+इङ् अध्ययने, यद्वा, इक् स्मरणे-क्तिन् । अध्येतव्यान् वेदान् । स्मर्तव्यान् पदार्थान् । अधि+अगात् । इणो गा लुङि । पा० २ । ४ । ४५ । तत्रैव वार्त्तिकम् । इणवदिक इति वक्तव्यम् । इति इक् स्मरणे-लुङि गादेशः । अस्मार्षीत् । स्मृतवान् । जीवपुराः । ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे । पा० ५ । ४ । ७४ । इति पुर् इत्यस्य अकारः समासान्तः । जीवानां पुरः पुराणि नगराणि पत्तनानि अधि+अगन् । गमेर्लुङि । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । अध्यगमत् । अज्ञासीत् । हि । यस्मात् कारणात् । शतम्, सहस्रम् । अपरमिताः । भिषजः । बिभेति रोगो यस्मादिति भिषक् । भियः षुग् ह्रस्वश्च । उ० १ । १३८ । इति ञिभी भये-अजि । षुगागमो ह्रस्वश्च । वैद्याः । वीरुधः । अ० २ । ७ । १ । औषधयः ॥

दे॒वास्ते॑ ची॒तिम॑विदन् ब्र॒ह्माण॑ उ॒त वी॒रुधः॑ ।
ची॒तिं ते॒ विश्वे॑ दे॒वा अवि॑दन् भूम्या॒मधि॑ ॥ ४ ॥

दे॒वाः । ते॒ । ची॒तिम् । अ॒वि॒द॒न् । ब्र॒ह्माणः॑ । उ॒त । वी॒रुधः॑ ।
ची॒तिम् । ते॒ । विश्वे॑ । दे॒वाः । अ॒वि॒द॒न् । भूम्या॑म् । अधि॑ ॥४॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (ते) तेरे लिये (देवाः) प्रकाशमान (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानियों ने (उत) और (वीरुधः) ओषधों ने (चीतिम्=चितिम्) ज्ञान (अविदन्) प्राप्त किया है। (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थों [सूर्य, चन्द्र, वायु आदि] ने (ते) तेरे लिये (चीतिम्) चेतन्यता को (भूम्याम् अधि) पृथिवी के ऊपर (अविदन्) प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् वेद वेत्ताओं के उपदेश से, और अन्न आदि ओषधों, और सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, आकाश आदि दिव्य पदार्थों में ईश्वरीय अटल नियमों से शिक्षा और उपकार प्राप्त करके, ईश्वर की महिमा के ध्यान में निमग्न होकर और परोपकार करके आनन्द पाते हैं ॥ ४ ॥

यश्च॒कार॒ स निष्क॑र॒त् स ए॒व सुभि॑षक्त॑मः ।
स ए॒व तुभ्यं॑ भेष॒जानि॑ कृणव॑द् भि॒षजा॒ शुचिः॑ ॥५॥

यः । च॒कार॑ । सः । निः । क॒र॒त् । सः । ए॒व । सुभि॑षक्ऽतमः ।
सः । ए॒व । तुभ्य॑म् । भे॒ष॒जानि॑ । कृ॒णव॑त् । भि॒षजा॑ । शुचिः॑ ॥५॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (चकार) बनाया है, (सः)

४—देवाः । प्रकाशमानाः । दातारः । दिव्यपदार्थाः । सूर्यादयः । ते । तुभ्यं हे मनुष्य । चीतिम् । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति चिती ज्ञाने, जागरणे च-इन् , स च कित्, दीर्घश्छान्दसः । ज्ञानम् । जागरणम् । अविदन् । विद्लृ लाभे-लुङ् । लब्धवन्तः । ब्रह्माणः । अ० २ । ६ । २ । ब्रह्मज्ञानिनः । ब्राह्मणाः । वीरुधः । ओषधयः । भूम्याम् । अ० १ । ११ । २ । भू-मि । भूलोके । पृथिव्याम् ॥

५—यः । परमेश्वरः । चकार । सर्वं सृष्टवान् । निः+करत् । लेटो-

वही (निष्करत्) निस्तारा करेगा, (सः) वह (एव) ही (सुभिषक्तमः) बड़ा भारी वैद्य है। (सः) वह (एव) ही (शुचिः) पवित्रात्मा (भिषजा) वैद्य रूप से (तुभ्यम्) तेरे लिये (भेषजानि) ओषधों को (कृणवत्) करेगा॥ ५॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने इस सृष्टि को रचा है, वही जगदीश्वर अपने आज्ञाकारी, और पुरुषार्थी सेवकों का क्लेश हरण कर के आनन्द देता है॥ ५॥

टिप्पणी—(भिषजा शुचिः) "वैद्यरूप से पवित्रात्मा" के स्थान में (भिषजां शुचिः) "वैद्यों में पवित्रात्मा" ऐसा पाठ अधिक ठीक दीखता है। लिपि प्रमाद से अनुस्वार नहीं लगा। नीचे के प्रयोगों को विचारिये॥

१—ऋग्वेद २। ३३। ४। में ऐसा पाठ है।

भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि॥

मैं तुझ को (भिषजाम्) वैद्यों में महा वैद्य सुनता हूं॥

२—अथर्ववेद ६। २४। २। ऐसा है।

आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः॥

(भिषजाम्) वैद्यों में अति पूजनीय वैद्य (आपः) परमेश्वर उस सब दुःख को हटावे॥

३—यजुर्वेद २१। ४०। में ऐसा पाठ है।

सुत्रामाणꣳ सवितारं वरुणं भिषजां पतिꣳ स्वाहा॥

बड़े रक्षक, परम ऐश्वर्य वाले, श्रेष्ठ, (भिषजाम्) वैद्यों के (पतिम्) रक्षक को सुन्दर वाणी है॥

ऽडाटौ। पा० ३। ४। ६४। इति कृञ् करणे-लेटि अडागमः। कः करत्करति०। पा० ८। ३। ५०। इति निसःपत्वम्। निष्कृतिं निर्मुक्तिं पापादिभ्यउद्धारं कुर्यात्। **सुभिषक्तमः**। सु+भिषज्+तमप्। म० ३। अतिशयेन पूजनीयो भिषक्, भयनिवारको वैद्यः। **भेषजानि**। अ० २। ३। २। औषधानि। **कृणवत्**। कृवि हिंसाकरणयोः-लेट्। कुर्यात्। **भिषजा**। म० ३। भिषग्रूपेण। इत्थंभावे तृतीया। यद्वा (भिषजाम्) इति पाठे। वैद्यानां मध्ये। **शुचिः**। अ० १। ३३। १। शुचिर् शौचे-इन्। स च कित्। शुद्धस्वभावः। पवित्रः॥

सूक्तम् १० ॥

१—८ ॥ ब्रह्म देवता । १ त्रिष्टुप्, २-७ प्रथम-द्वितीय-पंचम-षष्ठपादास्त्रिष्टुप्, तृतीय-चतुर्थौ च जगती छन्दः ॥

मुक्तिप्राप्त्युपदेशः—मुक्ति की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

क्षे॒त्रि॒यात् त्वा॒ निर्ऋ॑त्या जामिशं॒सात् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्। अ॒ना॒गसं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥ १ ॥

क्षे॒त्रि॒यात् । त्वा॒ । निः॒ऽऋ॑त्याः । जा॒मि॒ऽशं॒सात् । द्रु॒हः । मु॒ञ्चा॒मि॒ । वरु॑णस्य । पाशा॑त् । अ॒ना॒गस॑म् । ब्रह्म॑णा । त्वा॒ । कृ॒णो॒मि॒ । शि॒वे इति॑ । ते॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । स्ता॒म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (त्वा) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के रोग से, (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी [महामारी दरिद्रता आदि] से, (जामिशंसात्) भक्षणशील मूर्ख के सताने से, (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्ता] से और (वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले न्यायाधीश के (पाशात्) दंड पाश वा

१—क्षेत्रियात् । अ० २ । ८ । १ । देहे वंशे वा जाताद् रोगाद् दोषाद्वा । निर्ऋत्याः । अ० १ । ३१ । २ । निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः–निरु० २ । ७ । कृच्छ्रापत्तेः सकाशात् । जामिशंसात् । (जामिः) इति व्याख्यातम्–अ० २ । ७ । २ । जम भक्षणे-इञ् । जाम्यतिरेक नाम बालिशस्य वासमानजातीयस्य वा–निरु० ४ । २० । शंसु हिंसास्तुत्योः—अप्रत्ययः । भक्षणशीलस्य । बालिशस्य मूर्खस्य शंसनात् हिंसनात् । द्रुहः । द्रुह अनिष्टचिन्तने–क्विप् । अनिष्टचिन्तनात् । मुञ्चामि । मोचयामि । वरुणस्य । अ० १ । ३ । ३ । वृञ् वरणे उनन् । दुष्टानामावरकस्य न्यायाधीशस्य । पाशात् । पश्यते बध्यतेऽनेन । पश बन्धे बाधे च-घञ् । शस्त्रभेदात् । दण्डबन्धात् । अनागसम् । इण

बन्ध से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं। (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (त्वा) तुम को (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूं, (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी=०—द्यौ) आकाश और पृथिवी (शिवे) मंगल मय (स्ताम्) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद ज्ञान प्राप्ति से ऐसा प्रयत्न करे कि आत्मिक, शारीरिक, और दैवी विपत्तियों और मूर्खों के दुष्ट आचरणों से पृथक् रहे, और न कभी कोई पाप करे जिस से परमेश्वर वा राजा उसे दण्ड न देवे, किन्तु सुशीलता के कारण संसार के सब पदार्थ आनन्द कारी हों ॥

शं ते॑ अ॒ग्निः स॒हाद्भिर॑स्तु॒ शं सोमः॑ स॒हौष॑धीभिः। ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निरृ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्। अ॒ना॒ग॒सं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥ २ ॥

शम्। ते॒। अ॒ग्निः। स॒ह। अ॒त्-भिः। अ॒स्तु॒। शम्। सोमः॑। स॒ह। ओष॑धीभिः। ए॒व। अ॒हम्। त्वाम्। क्षे॒त्रि॒यात्। निः-ऋ॑त्याः। जा॒मि॒-शं॒सात्। द्रु॒हः। मु॒ञ्चा॒मि॒। वरु॑णस्य। पाशा॑त्। अ॒ना॒ग॒स॑म्। ब्रह्म॑णा। त्वा॒। कृ॒णो॒मि॒। शि॒वे इति॑। ते॒। द्यावा॑-पृ॒थि॒वी इति॑। उ॒भे इति॑। स्ता॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (अग्निः) अग्नि (अद्भिः सह) जल के साथ (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो, (सोमः) अमृत [ऐश्वर्य] (ओषधिभिःसह)

आगोऽपराधे च। उ० ४। ११२। इति इण् गतौ—असुन्, आगादेशः। अपराधरहितम्। निर्दोषम्। ब्रह्मणा। अ० १। ८। ४। वेदज्ञानेन। शिवे। अ० २। ६। ३। कल्याणकारिण्यौ। द्यावापृथिवी। अ० २। १। ४। ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा० १। १। ११। इति सन्ध्यभावः। आकाशपृथिवीस्थपदार्थाः। स्ताम्। भवताम् ॥

२—शम्। सुखकरः। ते। तुभ्यम्। अग्निः। पावकः। अद्भिः। जलेन। सोमः। अ० १। ६। २। षु प्रसवैश्वर्ययोः—मन्। ऐश्वर्यम्। ओषधीभिः।

अन्न आदि औषधियों के साथ (शम्) सुखदायक हो। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के रोग से ...... [मन्त्र १] ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य को विज्ञान पूर्वक देश, काल, अग्नि, जल, वायु, स्नान, पान आदि पदार्थों का ठीक उपयोग करके स्वस्थ और ऐश्वर्यवान् रहकर आनन्द भोगना चाहिये ॥ २ ॥

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निरृत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ३ ॥

शम् । ते । वातः । अन्तरिक्षे । वयः । धात् । शम् । ते । भवन्तु । प्र-दिशः । चतस्रः । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निः-ऋत्याः । जामि-शंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥३॥

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (अन्तरिक्षे) मध्य में दीखने वाले आकाश में वर्त्तमान (शम्) सुखदायक (वातः) पवन (वयः) अन्न वा यौवन [शारीरिक बल] को (धात्=धेयात्) पुष्ट करे, (ते) तेरे लिये (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) महादिशायें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) होवें। (एव) ऐसे ही

अ० १। २३। १। ओष+धा-कि,ङीप्। ओषो दाहो धीयतेऽत्र। व्रीहियवादिभिः। एव। एवम्। अन्यद् गतं म० १॥

३—वातः। अ० १। ११। ६। वा सुखाप्तिगतिसेवासु-तन्। पवनः। अन्तरिक्षे। अ० १। ३०। ३। सर्वमध्ये दृश्यमाने। आकाशे। वयः। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति वयङ् गतौ, वी गतौ, यद्वा अज गतौ-असुन्, अजतेर्वीभावः। अन्नम्-निघ० २। ७। यौवनम्। सामर्थ्यम्। धात्। डुधाञ्

(अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से ·····[मन्त्र २]

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न और परिश्रम करके अपने शरीरस्थ प्राण वायु और देशस्थ वायु, और सब स्थानों को यथोचित शुद्ध और स्वस्थ रख कर आनन्द प्राप्त करे ॥ ३ ॥

(वयोधात् =वयः धात्) इन दो पदों के स्थान पर संहिता और पद पाठ के विरुद्ध सायणभाष्य में [वयोधाः] एक पद मानकर [वयसां पक्षिणां धाता धारयिता वयसाम् अन्नेन पोषयिता वा वातः] व्याख्या की है।

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥४॥

इमाः । याः । देवीः । प्र-दिशः । चतस्रः । वात-पत्नीः । अभि । सूर्यः । वि-चष्टे । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निः-ऋत्याः । जामि-शंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) चलने वा चलाने वाला सूर्य लोक (इमाः) इन (याः) जिन (देवीः) दिव्यगुणवाली (वातपत्नीः) वायु मण्डल से रक्षित (चतस्रः) चारो

धारणपोषणयोः-लेटि विधिलिङि वा छान्दसं रूपम् । धत्तात् । दध्यात् । शम् । सुखकार्यः । **प्रदिशः** । प्रकृष्टा दिशः प्राच्याद्या महादिशाः ॥

४—**देवीः** । अ० १ । ४ । ३ देव-ङीप् । द्योतमानाः । दिव्याः । **वातपत्नीः** । विभाषा सपूर्वस्य । पा० ४ । १ । ३४ । इति वातपूर्वस्य पति-शब्दस्य इकारस्य नकारो ङीप् च । वातः पती रक्षको यासां ताः । वायुरक्षिताः

(प्रदिशः) महा दिशाओं को (अभि) सब प्रकार (विचष्टे) देखता है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से...... [मन्त्र २] ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपनी किरणों से आकर्षण करके पृथिवी आदि लोकों को धारण करता और वायु मण्डल पतन होजाने से उन की रक्षा करता है, ऐसे ही मनुष्य को अपनी प्रजा का पोषण करके सुखी रहना चाहिये ॥४॥

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः। एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्। अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ५ ॥

तासु। त्वा। अन्तः। जरसि। आ। दधामि। प्र। यक्ष्मः। एतु। निः-ऋतिः। पराचैः। एव। अहम्। त्वाम्। क्षेत्रियात्। निः-ऋत्याः। जामि-शंसात्। द्रुहः। मुञ्चामि। वरुणस्य। पाशात्। अनागसम्। ब्रह्मणा। त्वा। कृणोमि। शिवे इति। ते। द्यावापृथिवी इति। उभे इति। स्ताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तासु) उन [दिशाओं] में (त्वा) तुझ को (जरसि) स्तुति के (अन्तः) मध्य में (आ) भले प्रकार से (दधामि) धारण करता हूं, (यक्ष्मः) राज रोग [क्षयी आदि] और (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी [महामारी दरिद्रता आदि] भी (पराचैः) औंधे मुंह होकर (प्र+एतु) चली जावे। (एव) ऐसेही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से...[मन्त्र २] ॥ ५ ॥

सर्वलोकाः। इत्यर्थः। सूर्यः। अ० १।३।५। आकाशे सर्ता सविता प्रेरको वा। आदित्यलोकः। विचष्टे। चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-लट्, अदादित्वात् शपो लुक्। चष्टे, विचष्टे पश्यतिकर्माणौ-निघ० ३। ११। विविधं पश्यति। किरणैः प्रकाशयति, आकर्षति धारयति चेत्यर्थः ॥

५—तासु। पूर्वोक्तासु दिक्षु। त्वा। त्वां मनुष्यम्। आत्मानम्। अन्तर्।

भावार्थ—मनुष्य को परमेश्वर ने सब प्राणियों में श्रेष्ठ बनाया है, इस लिये पुरुष, पुरुषार्थ करके सब विघ्नों को हटावे और कीर्त्तिमान् होकर सदा आनन्द भोगे और अमर होवे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—हमारे विचार में यहां भी (जरस्) पद का अर्थ निघण्टु और निरुक्त आदि के अनुसार स्तुति वा कीर्त्ति है [बुढ़ापे का अर्थ बे मेल है]।

अथर्ववेद १। ३०। २। और टिप्पणी देखिये, और यजु० ३६। २४ भी विचारिये।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १ ॥

(तत्) परब्रह्म (चक्षुः) सब का द्रष्टा, (देवहितम्) विद्वान् देवताओं का हितकारी, (शुक्रम्) वीर्यवान्, (पुरस्तात्) पहिले काल से वा सन्मुख होकर (उच्चरत्) ऊंचा चढ़ रहा है। [ऐसा ध्यान करते हुये] (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतु वा वर्ष तक (पश्येम) हम देखते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (जीवेम) हम जीते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (शृणुयाम) हम सुनते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (प्रब्रवाम) हम बोलते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (अदीनाः) दीनता रहित (स्याम) हम रहें, (च) और (शतात् शरदः) सौ वर्ष से (भूयः) अधिक। अर्थात् हम सर्वथा पुष्टांग रहें और कभी अङ्गहीन और धनहीन न हों ॥

भव्ये। **जरसि** । १। ३०। २। जॄ स्तुतौ, यद्वा, गॄ शब्दे-असुन्। जरिता स्तोतृ-नाम—निघ० ३। १६। स्तुतौ। यशसि। **आ** । सम्यक्। यथाविधि। **दधामि** । अहं मनुष्यः स्वकीरूपेण धारयाम्यात्मानमित्यर्थः। **यक्ष्मः** । अर्त्तिस्तुसु० । उ० १। १४०। इति यक्ष पूजायाम्-मन्। पूज्यते वैद्यो रोगे। राजरोगः। क्षयः। **प्र+एतु** । प्रैतु। प्रगच्छतु। निर्गच्छतु। **निर्ऋतिः** । म० १। अलक्ष्मीः। दरिद्रतादिविपत्तिः। **पराचैः** । नौ दीर्घश्च। उ० ५। १३। इति बाहुलकात्, पर+चिञ् चयने-डैसि। अकारस्य दीर्घश्च। पराङ्मुखी ॥

अमु॑क्था यक्ष्माद् दुरि॒तादव॒द्याद् द्रु॒हः पाशा॒द् ग्राह्या॒-
श्चोद॑मुक्थाः । ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निरृ॑त्या जामि-
शं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चा॒मि वरु॑णस्य॒ पाशा॑त् । अ॒ना॒गसं॒
ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥६॥

अमु॑क्थाः । यक्ष्मा॑त् । दुः-इ॒तात् । अ॒व॒द्यात् । द्रु॒हः । पाशा॑त् ।
ग्राह्याः । च॒ । उत् । अ॒मु॒क्थाः । ए॒व । अ॒हम् । त्वाम् ।
क्षे॒त्रि॒यात् । निः-ऋ॑त्याः । जा॒मि-शं॒सात् । द्रु॒हः । मु॒ञ्चा॒मि
वरु॑णस्य । पाशा॑त् । अ॒ना॒गस॑म् । ब्रह्म॑णा । त्वा । कृ॒णो॒मि । शि॒वे
इति॑ । ते॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । स्ता॒म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यक्ष्मात्) राज रोग [क्षयी आदि] से, (दुरितात्) दुर्गति से, और (अवद्यात्) अकथनीय, निन्दनीय कर्म से (अमुक्थाः) तू मुक्त हो गया है, और (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्तन] से (च) और (ग्राह्याः) जकड़ने वाली पीड़ा के (पाशात्) पाश वा बन्ध से (उत्+अमुक्थाः) तू छुट चुका है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से ...[मन्त्र २] ॥ ६ ॥

भावार्थ-जैसे उत्तम वैद्य रोगी के रोगों को निवृत्त करके स्वस्थ कर देता है ऐसे ही ब्रह्मचारी वेद विज्ञान की प्राप्ति से निर्मल होकर सुखी होता है ॥ ६ ॥

६—अमुक्थाः । मुच्लृ मोक्षणे-कर्मणि लुङि मध्यमैकवचने । झलो झलि । पा० ८ । २ । २६ । इति सिचो लोपः । मुक्तोऽसि । यक्ष्मात् । म० ५ । राज रोगात् । दुरितात् । दुर्+इण् गतौ-भावे क्त । दुर्दुष्टम् इतं गमनं नरकादिदुर्गतिः- इति दुरितम् । दुर्गतेः । पापात् । अवद्यात् । अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु । पा० ३ । १ । १०१ । इति अ+वद कथने-यत्प्रत्यान्तो निपात्यते क्यपि प्राप्ते । अवचनीयात् । अकथनीयात् । गर्ह्यात् । पापात् । द्रुहः । द्रुह-क्विप् । अनिष्टचिन्तनात् । पाशात् । बन्धनात् । ग्राह्याः । अ० २ । ६ । १ । ग्रह-इञ् । ग्रहणशीलायाः पीड़ायाः सकाशात् । उत् । उङ् शब्दे-क्विप, तुक् । पृषोदरादित्वाद् दत्वं वा । प्राकट्येन । उत्कर्षेण । अन्यद् गतम् ॥

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्। अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ७ ॥

अहाः। अरातिम्। अविदः। स्योनम्। अपि। अभूः। भद्रे। सु-कृतस्य। लोके। एव। अहम्। त्वाम्। क्षेत्रियात्। निः-ऋत्याः। जामि-शंसात्। द्रुहः। मुञ्चामि। वरुणस्य। पाशात्। अनागसम्। ब्रह्मणा। त्वा। कृणोमि। शिवे इति। ते। द्यावापृथिवी इति। उभे इति। स्ताम् ॥७॥

भाषार्थ—(अरातिम्) कंजूसी या वैर को (अहाः = अहासीः) तू ने त्याग दिया है, (स्योनम्) हर्ष को (अविदः) तूने पाया है, (अपि) और भी (सुकृतस्य) सुकृत [पुण्य कर्म] के (भद्रे) आनन्दमय (लोके) लोक में (अभूः) तू वर्तमान हुआ है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से...... [मन्त्र २] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य वैर छोड़ कर उदार, उपकारी, सर्वमित्र बनकर अनेक बल अर्थात् मुक्ति के आनन्द को पाता है ॥ ७ ॥

• पातञ्जल योगदर्शन, पाद ३ सूत्र २२ देखिये।

७—अहाः। ओहाक् त्यागे-लुङि। मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्० । पा० २। ४। ८०। इति च्लेर्लुक्। अहासीः। अत्याक्षीः। अरातिम्। अ० १। १८। २। रा दाने-क्तिन्। अदानृताम्। शत्रुताम्। अविदः। विद्लृ लाभे-लुङ्। लृदित्वाद् अङ्। लब्धवानासि। स्योनम्। सिवेष्टेर्यू च। उ० ३। ९। इति षिवु तन्तुसन्ताने-न प्रत्ययः, टिभागस्य यू इत्यादेशो गुणः। स्योनमिति सुखनाम स्यतेरवस्यन्त्येतत् सेवितव्यं भवतीति वा-निरु० ८। ९। सुखम्। आनन्दम्। अपि। न पियति। पि गतौ-क्विप्, न तुक्। समुच्चये। अवधारणे। पुनर्थे। अभूः।

मैत्र्यादिषु बलानि ।

मित्रता आदिकों में [संयम से] अनेक बल होते हैं ॥

टिप्पणी—(अभूः) के स्थान पर सायणभाष्य में [अभून्] माना है ॥

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः। एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्। अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

सूर्यम्। ऋतम्। तमसः। ग्राह्याः। अधि। देवाः। मुञ्चन्तः। असृजन्। निः। एनसः। एव। अहम्। त्वाम्। क्षेत्रियात्। निः-ऋत्याः। जामि-शंसात्। द्रुहः। मुञ्चामि। वरुणस्य। पाशात्। अनागसम्। ब्रह्मणा। त्वा। कृणोमि। शिवे इति। ते। द्यावापृथिवी इति। उभे इति। स्ताम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(देवाः) [ईश्वर के] दिव्य सामर्थ्यों ने (ऋतम्) चलने वाले (सूर्यम्) सूर्य को (तमसः) अन्धकार की (ग्राह्याः) पकड़ से और (एनसः अधि) कष्ट से (मुञ्चन्तः) छुड़ा कर (निः+असृजन्) उत्पन्न किया है। (एव) वैसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से,

---

भू सत्तायाम्-लुङ्। त्वं वर्तमानोऽभूः। भद्रे। अ० १। १८। १। भदि-रन्। भन्दनीये। सुखप्रदे। लोके। अ० २। ६। १। स्थाने। अन्यद् गतम् ॥

८—सूर्यम्। अ० १। ४। २। गतिशीलं प्रेरकं वादित्यम्। ऋतम्। ऋ गतौ-कर्त्तरि क्त। ऋतः, मध्यस्थानदेवतासु-निरु० १०। ४०। अर्त्तारम् अन्तरिक्षे गन्तारम्। तमसः। तमिर् खेदे-असुन्। अन्धकारस्य। ग्राह्याः। मं० १। ग्रहणात्। देवाः। ईश्वरस्य दिव्यबलानि। मुञ्चन्तः। मोचयन्तः। असृजन्। सृज विसर्गे। सृष्टवन्तः। उत्पादितवन्तः। निर्। नॄ नयने-क्विप्, न दीर्घः। निश्चये। बहिर्भावे। एनसः। इण आगसि। उ० ४। १९८। इति

(निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी [महामारी, दरिद्रता आदि] से (जामिशंसात्) भक्षण शील मूर्ख के सताने से, (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्ता] से और (वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले न्यायाधीश के (पाशात्) दंड पाश वा बन्ध से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं। (ब्रह्मणा) वेद विधान से (त्वा) तुझ को (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूं, (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी=०-द्यौ) आकाश और पृथिवी (शिवे) मंगलमय (स्ताम्) होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर की शक्ति से सूर्य प्रलय वा ग्रहण के अन्धकार से छूट कर प्रकाशित होकर क्लेश हरण करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने सब विघ्नों का नाश करके, आत्मिक बल बढ़ा कर संसार में उपकार करे, और आनन्द भोगे ॥ ८ ॥

सूक्तम् ११ ॥

१—५ ॥ पुरुषो देवता । १ पंचषट्का, २-५ प्रथमद्वितीयपादौ द्व्यष्टका, तृतीय-चतुर्थौ च द्विपट्का गायत्री ।

पुरुषार्थोपदेशः-पुरुषार्थ का उपदेश ॥

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥

दूष्याः । दूषिः । असि । हेत्याः । हेतिः । असि । मेन्याः । मेनिः । असि । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् क्राम ॥१॥

भावार्थ—[हे पुरुष !] तू (दूष्याः) दूषित क्रिया का (दूषिः) खण्डनकर्ता (असि) है, और (हेत्याः) बरछी का (हेतिः) बरछी (असि) है,

---

ऋण् गतौ-असुन्। तुट् च। एन पतेः-निरु० ११। २४। दुःखात्। पापात्। अपराधात्। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१ दूष्याः । अ० १ । २३ । ४ । दुष दुष्टकर्मणि-इन् । दुष्टक्रियायाः । दूषिः । दूषकः, निवारकः-इति सायणोऽपि । असि । भवसि । हेत्याः । ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च पा० । ३ । ३ । ९७ । इति हन हिंसागत्योः, यद्वा, हि गतिवृद्ध्योः-क्तिनि हन्तेर्नकारस्येत्वम्, हिनोतेर्गुणश्च निपात्यते ।

(मेन्याः) वज्र का (मेनिः) वज्र (असि) है। (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य को बड़ी शक्ति दी है। जो पुरुष उन शक्तियों को परमेश्वर के विचार और अधिक गुण वालों के सत्संग से, काम में लाते हैं वे निर्विघ्न होकर अन्य पुरुषों से अधिक उपकारी हो कर आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

स्रुक्त्यो॑ऽसि प्रतिसुरो॑ऽसि प्रत्यभिचर॑णोऽसि ।

आप्नुहि श्रेयां॑सुमति सुमं क्राम ॥ २ ॥

स्रुक्त्यः । असि । प्रति-सुरः । असि । प्रति-अभिचरणः । असि ।

आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ २ ॥

भाषार्थ—तू (स्रक्त्यः) गतिशील (असि) है, (प्रतिसरः) प्रत्यक्ष चलने वाला (असि) है, और (प्रत्यभिचरणः) अभिचार [दुष्ट कर्म] का हटाने वाला (असि) है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को

हेतिर्वज्रनाम-निघ० २ । २० । वज्रस्य । आयुधस्य । **हेतिः** । अस्त्रम् । **मेन्याः** । वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इति मिञ् हिंसायाम्-नि । मेनिर्वज्रनाम-निघ० २ । २० । वज्रस्य । **मेनिः** । वज्रः । **आप्नुहि** । प्राप्नुहि । **श्रेयांसम्** । द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ । पा० ५ । ३ । ५७ । इति प्रशस्य-ईयसुन् । प्रशस्य श्रः । पा० ५ । ३ । ६० । इति प्रशस्यस्य श्र इत्यादेशः । प्रशस्यतरम् । अधिकगुणवन्तं पुरुषं परमात्मानं मनुष्यं वा । **अति** । अतीत्य । उल्लङ्घ्य । **समम्** । समानम् । तुल्यबलिनम् । **क्राम** । क्रमु पादविक्षेपे-लोट् । अग्रे गच्छ ॥

२—**स्रक्त्यः** । स्रक, स्रकि गतौ "सरक्नाः"-क्तिन् । स्रक्तिर्गतिः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । गतिमान् । उद्यमी । **प्रतिसरः** । प्रति+सृ गतौ-अच् । चितः । ६ । १ । १६३ । अन्तोदात्तः । प्रति प्रत्यक्षं सरतीति । अग्रगामी । **प्रत्यभिचरणः** । प्रति+अभि+चर गमने, अदने,

(आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी मनुष्य निष्कपट, सरल स्वभाव होकर अग्रगामी होता है वह संकटों को हटा कर आनन्द प्राप्त करता है, मन्त्र १ देखिये ॥ २ ॥

प्रति तमभिचर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ३ ॥

प्रति । तम् । अभि । चर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (तम् प्रति) उस [दुराचारी पुरुष] की ओर (अभिचर) चढ़ाई कर, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) वैर करता है, और (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो छली कपटी धर्मात्माओं से अप्रीति करें और जिन दुष्कर्मियों से धर्मात्मा लोग घृणा करते हों, राजा उन दुष्टों को वश में करके दण्ड देवे ॥

२—सब मनुष्य शारीरिक और मानसिक रोगों को हटाकर सत्य धर्म में प्रवृत्त हों और प्रयत्न पूर्वक सदैव उन्नति करें ॥ ३ ॥

आचारे च-ल्युट् । प्रति प्रतिकूलम् अभिचरणम् अभिचारो हिंसनं यस्मात् स प्रत्यभिचरणः । व्यभिचारनिवारकः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

३—**प्रति** । अभिलक्ष्य । **अभि+चर** । अभिभव । नाशय । **यः** । दुराचारी पुरुषः । **अस्मान्** । धर्मचारिणः । **द्वेष्टि** । द्विष अप्रीतौ—अदादित्वात् शपो लुक् । अप्रीत्या गृह्णाति । जिघांसति । **द्विष्मः** । अप्रीत्या गृह्णीमः । अन्यद् गतम् ॥

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ४ ॥

सूरिः । असि । वर्चः-धाः । असि । तनू-पानः । असि ।
आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे राजन् ! तू (सूरिः) विद्वान् (असि) है, (वर्चोधाः) अन्न वा तेज का धारण करने वाला (असि) है, (तनूपानः) हमारे शरीरों का रक्षक (असि) है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति= अतीत्य) बढ़कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रतापी राजा अन्न आदि से अपनी प्रजा की सदा रक्षा और उन्नति करे ॥ ४ ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

शुक्रः । असि । भ्राजः । असि । स्वः । असि । ज्योतिः ।
असि । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शुक्रः) तू वीर्यवान् (असि) है, (भ्राजः) प्रकाशमान् (असि) है, (स्वः) तू स्वर्ग [सुखधाम] (असि) है, (ज्योतिः) [सूर्यादि के समान]

४—सूरिः । सूङः क्रिः उ० ४ । ६४ । इति षूङ् प्राणिप्रसवे, यद्वा, षू प्रेरणे क्रि । सूते उत्पादयति, सुवति प्रेरयति वा सद्वाक्यानि । स्तोता—निघ० ३ । १६ । अभिज्ञः । पण्डितः । वर्चोधाः । वर्चस्+धाञ्-विच् । वर्चः-अ० १ । ६ । ४ । वर्चसः, अन्नस्य तेजसो वा धाता । तनूपानः । तनू+पा रक्षणे-भावे ल्युट् । तनूनां पानं रक्षणं यस्मात् सः । शरीररक्षकः ॥

५—शुक्रः । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति शुच दीप्तौ-रन् । शुक्रम्=पुंस्त्वम् । वीर्यम् । तेजः । उदकम्-निघ० १ । १२ । ततः । अर्श-आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति अच् । यद्वा । शुच-क्विप् । रो मत्वर्थीयः । वीर्यवान् ।

तेजः स्वरूप (असि) है। (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (प्राप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति= अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ ५ ॥

भावार्थ —राजा महाशक्तिमान्, प्रतापी, और ऐश्वर्यवान् ईश्वर पर श्रद्धालु होकर अपनी और प्रजा की सदा वृद्धि करे ॥ ५ ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—८ ॥ विश्वे देवा देवताः । १—६ त्रिष्टुप्, ७, ८ अनुष्टुप् छन्दः ॥
सर्वरक्षोपदेशः—सबकी रक्षा के लिये उपदेश ॥

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः । उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी इति । उरु । अन्तरिक्षम् । क्षेत्रस्य । पत्नी । उरु-गायः । अद्भुतः । उत । अन्तरिक्षम् । उरु । वात-गोपम् । ते । इह । तप्यन्ताम् । मयि । तप्यमाने ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी=०—द्यौ) सूर्य और पृथिवी (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) मध्य में दीखने वाला आकाश, (क्षेत्रस्य) निवास स्थान, संसार की (पत्नी) रक्षा करने वाली [दिशा वा वृष्टि], (अद्भुतः) आश्चर्य स्वरूप (उरुगायः) विस्तृत स्तुति वाला परमेश्वर, (उत) और (उरु) विस्तीर्ण (वातगोपम्) प्राण वायु से रक्षा किया हुआ (अन्तरिक्षम्) मध्य वर्त्ती)

कान्तिवान् । भ्राजः । टु भ्राजृ दीप्तौ-अच् । दीप्यमानः । तेजस्वी । स्वर् । अ० २ । ५ । २ । सु+ऋ गतौ, यद्वा, स्वृ शब्दोपतापयोः-विच् । सुगमनः । शत्रूपतापकः । स्वर्गः । सुखप्रदः । ज्योतिः । अ० १ । ६ । १ । द्युत दीप्तौ-इसिन् । दस्य जः । तेजः । प्रकाशः ॥

१—द्यावापृथिवी । अ० २ । १ । ४ । ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् । पा० १ । १ । ११ । इति सन्धिविषये प्रकृतिभावः । सूर्यभूमी । उरु । महति ह्रस्वश्च । उ० १ । ३१ । इति ऊर्णु आच्छादने-कु, नुलोपो ह्रस्वश्च । महत् । बड़म् । अन्तरिक्षम् । अ० १ । ३० । ३ । अन्तर्+ईक्ष दर्शने-घञ् । आकाशम् । अन्तः-करणम् । क्षेत्रस्य । गुधृवीपचिवचि० । उ० ४ । १६७ । इति क्षि निवासगत्यैश्वर्येषु-ष्ट्रन् । निवासस्थानस्य संसारस्य भूमेर्वा । क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति

अन्तः करण [ये सब जो देव हैं] (ते) वे सब (इह) यहां पर [इस जन्म में] (मयि) मुझ (तप्यमाने) तपश्चर्या करते हुये पर (तप्यन्ताम्) ऐश्वर्य वाले होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमों के पालन से विद्या ग्रहण करके देख भाल करता है, परमेश्वर और सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थ उस पुरुषार्थी पुरुष को ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं ॥ १ ॥

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति । पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥

इदम् । देवाः । शृणुत । ये । यज्ञियाः । स्थ । भरत्-वाजः । मह्यम् । उक्थानि । शंसति । पाशे । सः । बद्धः । दुः-इते । नि । युज्यताम् । यः । अस्माकम् । मनः । इदम् । हिनस्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे दिव्य गुण वाले महात्माओ ! (ये) जो तुम (यज्ञियाः) सत्कार योग्य (स्थ) हो, (इदम्) यह (शृणुत) सुनो, (भरद्वाजः) पुष्टि-

---

क्षेत्रमुक्तं लोकत्रयम्-इति सायणोऽपि । **पत्नी** । पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । पा० ४ । १ । ३३ । इति पतिशब्दस्य नकारादेशः, ङीप् च । पालयित्री दिशा सृष्टिर्वा । **उरुगायः** । उरु+गै गाने-घञ् । उरुभिर्महद्भिः, यद्वा, उरु विस्तीर्णं गीयते सः । बहुगीयमानः । **अद्भुतः** । अदि भुवो डुतच् । उ० ५ । १ । अततीति अत सातत्यगमने-क्विप् । अत्, अद् वा अकस्मादर्थे । अत्+भू सत्तायां भा दीप्तौ वा डुतच् । आश्चर्यस्वरूपः । अपूर्वः । **उत** । अपि च । **वातगोपम्** । वातः प्राणवायुः, गोपाः गोपयिता यस्य, यद्वा प्राणवायुना गोप्यमानं धार्यमाणं यत्तद् अन्तरिक्षं हृदयम् । **ते** । सर्वे पदार्थाः । **इह** । अस्मिन् जन्मनि । **तप्यन्ताम्** । तप उपतापे ऐश्वर्ये च । दिवादिः । आत्मनेपदी-लोट् । ऐश्वर्यवन्तो भवन्तु । पश्यत-"तप्यते धनी, ईश्वरः स्यादित्यर्थः ।" **मयि** । उपासके । **तप्यमाने** । तप उपतापे-कर्मणि शानच् । ब्रह्मचर्यादि-तपश्चर्यां कुर्वति क्लिश्यमाने वा ॥

२—**इदम्** । इन्देः कमिन्नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये-कमिन् । पुरोवर्त्ति वक्ष्यमाणं वा वाक्यम् । **देवाः** । दीप्यमानाः । दातारः । विद्वांसः ।

कारक अन्न वा बल वा विज्ञान का धारण करने वाला, परमेश्वर (मह्यम्) मुझ को (उक्थानि) वेद वचनों का (शंसति) उपदेश करता है। (सः) वह मनुष्य (दुरिते) बड़े कठिन (पाशे) फांस में (बद्धः) बँधा हुआ (नि + युज्यताम्) आज्ञा में रहे, (यः) जो मनुष्य (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस [सन्मार्ग में लगे हुये] (मनः) मन को (हिनस्ति) सतावे ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वानों को परस्पर मिल कर ब्रह्मविचार करना चाहिये। वह सर्वशक्तिमान् दुष्कर्मियों को क्लेश और सुकर्मियों को आनन्द देता है। उस सर्वपोषक ने यह आज्ञा वेद द्वारा मनुष्य मात्र के लिये प्रकाशित की है ॥ २ ॥

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि। वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥

इदम् । इन्द्र । शृणुहि । सोम-प । यत् । त्वा । हृदा । शोचता । जोहवीमि । वृश्चामि । तम् । कुलिशेन-इव । वृक्षम् । यः । अस्माकम् । मनः । इदम् । हिनस्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमप) हे ऐश्वर्य के रक्षक [वा अमृत पीने वाले वा अमृत

शृणुत । श्रु श्रवणे । आकर्णयत । यज्ञियाः । यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ । पा० ५ । १ । ५७ । इति यज्ञ-घप्रत्ययः । यज्ञार्हाः । पूजनीयाः । स्थ । भवथ । भरद्वाजः । भरत्+वाजः । भृञ् धारणपोषणयोः-शतृ । अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १६ । इति वज गतौ-घञ् । वाजः, अन्नम्-निघ० २ । ७ । बलम्-निघ० २ । ६ । भरत् देवानां पोषकं वाजो हविर्लक्षणम् अन्नं यस्य सोऽयं भरद्वाजः-इति सायणः । बिभर्तीति भरन् वाजमन्नं यः स भरद्वाजोऽन्नधर्त्ता-इति महीधरो यजुर्वेदभाष्ये १३ । ५५ । वाजोऽन्नं विज्ञानं वा बिभर्त्ति येन-इति दयानन्दसरस्वती-तत्र यजुर्वेदभाष्ये । अन्नस्य बलस्य विज्ञानस्य वा भर्त्ता धारकः पोषको वा परमेश्वरः । मह्यम् । मदर्थम् । उक्थानि । पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् । उ० २ । ७ । इति वच कथने-थक् । शास्त्राणि । शंसति । शंसु हिंसास्तुत्योः कथने च । कथयति, उपदिशति । पाशे । अ० २ । ८ । १ । बन्धने । बद्धः । बन्ध बन्धे-क्त । निरुद्धः । निगडितः । दुरिते । इण्-क्त । दुर्गते । अतिकठिने । नि+युज्यताम् । युज संयमे बन्धने-कर्मणि लोट् । नियतो बद्धो भवतु । मनः । मन बोधे-असुन् । मननात्मकं चित्तम् । हृदयम् । इदम् । सन्मार्गप्रवृत्तम् । हिनस्ति । हिसि हिंसायाम् । बाधते । क्लिश्नाति ॥

३—इदम् म० २ । वक्ष्यमाणं वाक्यम् । इन्द्र । हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् !

की रक्षा करने वाले] (इन्द्र) राजन् ! परमेश्वर ! (इदम्) इस [वचन] को (शृणुहि) तू सुन (यत्) क्योंकि (शोचता) शोक करते हुए (हृदा) हृदय से (त्वा) तुझे (जोहवीमि) आवाहन करता रहता हूं। (इव) जैसे (कुलिशेन) कुठारी से (वृक्षम्) वृक्ष को [काटते हैं वैसे ही] मैं (तम्) उस [मनुष्य] को (वृश्चामि) काट डालूं (यः) जो (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस [सन्मार्ग में लगे हुए] (मनः) मन को (हिनस्ति) सतावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे प्रजा गण दुष्टों से पीड़ित होकर राजा के सहाय से उद्धार पाते हैं, वैसे ही बलवान् राजा उस परम् पिता जगदीश्वर के आवाहन से पुरुषार्थ करके अपने कष्टों से छुटकारा पावे ॥ ३ ॥

शृणुहि। उतश्च प्रत्ययादित्यत्र छन्दसि वेति वक्तव्यम्। वा० पा० ६। ४। १०६। इति हेरलुक्। शृणु। **सोमप**। अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षि०। उ० १। १४०। इति षु गतौ। ऐश्वर्यप्रसवयोश्च-मन्। सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः। आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३। २। ३। इति सोम+पा रक्षणे पाने वा-क। हे सोमस्य ऐश्वर्यस्य रक्षक ! यद्वा। अमृतस्य मोक्षसुखस्य पानशील रक्षक वा ! **यत्**। यतः। यस्मात् कारणात्। **त्वा**। त्वामिन्द्रम्। **हृदा**। हृञ् हरणे-क्विप्। तुक् च। हृदयेन। मनसा। **शोचता**। शुच शोके-शतृ। शोकार्त्तेन। दुःखितेन। **जोहवीमि**। ह्वेञ् आह्वाने-यङ्लुगन्तात् लडुत्तमैकवचने। ह्वः सम्प्रसारणम् पा० ६। १। ३२। अभ्यस्तस्य च। पा० ६। १। ३३। इति सम्प्रसारणम्। पुनः पुनराह्वयामि। **वृश्चामि**। ओव्रश्चू छेदने। तुदादित्वात् शः। छिनद्मि। **कुलिशेन**। कुल बन्धे संहतौ च-इन्, किच्च। कुलिः = हस्तः। यद्वा। कुल अस्त्यर्थे इनि। कुली पर्वतः। कुलौ हस्ते शेते वर्त्तते, शीङ् शयने-ड। यद्वा। कुलिनं संहतिवन्तं पर्वतं पर्ववन्तम् अतिदृढं श्यति, शो तनूकरणे-ड। वज्रेण। **वृक्षम्**। स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्। उ० ३। ६६। इति ओव्रश्चू छेदने-स प्रत्ययः। स च कित्। यद्वा। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः पा० ३। १। १३५। इति वृक्ष स्वीकरणे-कः। वृश्चति परिश्रमम्।। यद्वा। वृक्षते स्वीकरोति श्रान्तं जनं स वृक्षः। विटपम्। पादपम्। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

अशीति-भिः । तिसृ-भिः । साम-गेभिः । आदित्येभिः । वसु-भिः । अङ्गिरः-भिः । इष्टापूर्तम् । अवतु । नः । पितॄणाम् । आ । अमुम् । ददे । हरसा । दैव्येन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तिसृभिः) तीन (अशीतिभिः) व्याप्तियों [अर्थात् ईश्वर, जीव, और प्रकृति] से (सामगेभिः = ०—गैः) मोक्ष विद्या [ब्रह्म विद्या] के गाने वाले, (आदित्येभिः = ०—त्यैः) सर्वथा दीप्यमान, (वसुभिः) प्रशस्त गुण वाले (अङ्गिरोभिः) ज्ञानी पुरुषों के साथ (पितॄणाम्) रक्षक पिताओं

४—अशीतिभिः । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति अशू व्याप्तौ-ति छन्दसि इडागमो दीर्घश्च । अथवा, तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके । पा० ७ । ३ । ९५ । इति बाहुलकाद् ईडागमः । व्याप्तिभिः, ईश्वरजीवप्रकृतिरूपाभिः । **तिसृभिः** । त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ चतसृ । पा० ७ । २ । ९९ । इति त्रि शब्दस्य तिसृ इत्यादेशः । त्रिसंख्याकाभिः । **सामगेभिः** । सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । इति षो नाशे-मनिन् । स्यति नष्टीकरोति पापं दुःखमिति साम, तैर्गीयमानो वेदः । साम + गै- ड । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । १० । इति भिस ऐस भावो न । सामगैः । वेदपाठिभिः । ब्राह्मणैः । **आदित्येभिः** । अ० १ । ९ । १ । आङ् + दाञ् दाने दीपी दीप्तौ वा-यक्, निपात्यते । आदातृभिर्ग्रहीतृभिर्गुणानाम् । प्रकाशमानैः । सूर्यवत्तेजस्विभिः । **वसुभिः** । अ० १ । ९ । १ । वस आच्छादने, निवासे, दीप्तौ च-उप्रत्ययः । श्वसो वसीयश्श्रेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । वसु शब्दः प्रशस्तवाची-इति भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमुद्याम् । प्रशस्तैः । श्रेष्ठैः । **अङ्गिरोभिः** । अङ्गेरसिरिरुडागमश्च । उ० ४ । २३६ । इति अगि गतौ-असि, इरुडागमः । अङ्गनशीलैः । व्यापनशीलैः ज्ञानिभिः । महर्षिभिः । **इष्टापूर्तम्** । इष्टं च पूर्तं च द्वयोः समाहारः, पूर्वपददीर्घः । यज देवपूजनदानसङ्गतिकरणेषु, इषु वाञ्छे वा-भावे क्त । इज्यते इष्यते वा यत्तद् इष्टम् । पॄ पालने-क्त । न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम् । पा० ८ । २ । ५७ । इति तस्य न नत्वम् । यज्ञवेदाध्ययनान्नप्रदानादि पुण्यकर्म । यथा शब्दकल्पद्रुमकोषे ।

[पिता के समान उपकारियों] के (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म (नः) हमें (अवतु) तृप्त करें, (दैव्येन) विद्वानों के सम्बन्धी (हरसा) तेज से (अमुम्) उस [दुष्ट] को (आ+ददे) मैं पकड़ता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा बहुत से सत्यवादी, सत्यपराक्रमी, सर्वहितैषी, निष्कपटी, विद्वानों की सम्मति और सहाय, और बड़े २ पुरुषों के पुण्य कर्मों के अनुकरण, और दुष्टों को दण्ड दान से प्रजा में शान्ति स्थापित करके सदा सुखी रहे ॥ ४ ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रंभध्वम् । अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥५॥

द्यावापृथिवी इति । अनु । मा । आ । दीधीथाम् । विश्वे । देवासः । अनु । मा । आ । रभध्वम् । अङ्गिरसः । पितरः सोम्यासः । पापम् । आ । ऋच्छतु । अप-कामस्य । कर्ता ॥५॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी=०—व्यौ) हे सूर्य और पृथिवी ! (मा) मुझ पर (अनु=अनुलक्ष्य) अनुग्रह कर के (आ) भले प्रकार (दीधीथाम्)

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतड़ागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अवतु । रक्षतु । तर्पयतु । नः । अस्मान् । पितॄणाम् । अ० १ । २ । १। पालयितॄणाम् । रक्षकानाम् । आददे । गृह्णामि । स्वीकरोमि । अमुम् । तं शत्रुं पूर्वमन्त्रोक्तम् । हरसा । हृञ् हरणे-असुन् । हरो हरते ज्योतिर्हर उच्यते-निरु० ४ । १६ । हरः क्रोधः-निघ० २ । १३ । ज्योतिषा । तेजसा । दैव्येन । अ० २ । २ । २ । देव-यञ् । देवसम्बन्धिना ॥

५—द्यावापृथिवी । मा० १ । हे सूर्यभूमी । सर्वे पदार्थाः । अनु । अनुर्लक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । इति अनोः कर्मप्रवचनीयता । कर्मप्रचनीयक्तेयु

दोनों प्रकाशित हों, (विश्वे) हे सब (देवासः=०—वाः) उत्तम गुण वाले महात्माओ ! (मा) मुझ पर (अनु) अनुग्रह करके (आ) भले प्रकार (रभध्वम्) उत्साही बनो। (अङ्गिरसः) हे ज्ञानी पुरुषो ! (पितरः) हे रक्षक पिताओ ! (सोम्यासः=०—म्याः) हे सौम्य, मनोहर गुण वाले विद्वानो ! (अपकामस्य) अनिष्ट का (कर्त्ता) कर्त्ता (पापम्) दुःख (आ+ऋच्छतु) प्राप्त करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिये कि सूर्य और पृथिवी अर्थात् संसार के सब पदार्थ अनुकूल रहें, और बड़े २ उपकारी विद्वानों के सत्संग से डाकू उचक्के आदि को यथोचित दण्ड देकर और वश में करके शान्ति रक्खे ५॥

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम्। तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥६॥

अति-इव। यः। मरुतः। मन्यते। नः। ब्रह्म। वा। यः। निन्दिषत्। क्रियमाणम्। तपूंषि। तस्मै। वृजिनानि। सन्तु। ब्रह्म-द्विषम्। द्यौः। अभि-संतपाति॥६॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शत्रुओं को मारने वाले शूरो ! (यः) जो [दुष्ट

द्वितीया। पा० २।३।८। इति मा इत्यस्य द्वितीया। अनुलक्ष्य। **मा**। माम्। **दीधीयाम्**। दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः-लोट्, अदादित्वात् शपो लुक्। दीप्येताम्। **विश्वे**। सर्वे। **देवासः**। जसि असुगागमः। हे देवाः। महात्मानः। **आ+रभध्वम्**। रभ राभस्ये=उत्सुकीभावे-लोट्। उत्सुका भवत। उद्युक्ता भवत-इति सायणाचार्यः। **अङ्गिरसः**। म० ४। हे ज्ञानिनः। महर्षयः। **पितरः**। म० ४। हे पालकाः। पितृवत् सत्करणीयाः। **सोम्यासः**। तस्मै हितम्। पा० ५। १। ५। इति यत्। आज्जसेरसुक्। पा० ७। १। ५। इति असुक्। हे सोम्याः। सोमाय ऐश्वर्याय हिताः। मनोहराः। प्रियदर्शनाः। **पापम्**। पानीविषिभ्यः पः। उ० ३। २३। इति पा रक्षणे-प प्रत्ययः। पाति रक्षति अस्मादात्मानमिति। अधर्मम्। पातकम्। दुःखम्। **आ+ऋच्छतु**। आर्च्छतु। ऋच्छ गतौ। उपसर्गादृति धातौ। पा० ६। १। ९१। इति गुणापवादे वृद्धिः। प्राप्नोतु। **अपकामस्य**। अप नञर्थे+कमु इच्छायाम्-घञ्। अनिष्टस्य। अपकारस्य। अत्याचारस्य। **कर्ता**। कृञ्-तृच्। कारकः। प्रयोजकः॥

६—**अतीव**। अतिरतिक्रमणे च। पा० १। ४। ९५। इव अवधारणे,

पुरुष] (नः) हम पर (अतीव=अतीत्य एव) हाथ बढ़ा कर (मन्यते=मानयते) मान करे, (वा) अथवा (यः) जो (क्रियमाणम्) उपयुक्त किये हुये (ब्रह्म) [हमारे] वेद विज्ञान वा धन की (निन्दिषेत्) निन्दा करे। (वृजिनानि) [उसके] पाप कर्म (तस्मै) उस के लिये (तपूंषि) तापकारी [तुपक रूप] (सन्तु) हों। (द्यौः) दीप्यमान परमेश्वर (ब्रह्मद्विषम्) वेद विरोधी जन को (अभिसंतपाति) सब प्रकार से सन्ताप दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदों की सर्वोपकारी आज्ञाओं का उल्लंघन करे, उसे शूरवीर पुरुष योग्य दण्ड देवें, वह दुराचारी परमेश्वर की न्यायव्यवस्था से भी कष्ट भोगता है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ६। ५२। २ है ॥

सुप्त प्राणानुष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥

सप्त । प्राणान् । अष्टौ । मन्यः । तान् । ते । वृश्चामि । ब्रह्मणा ।
अयाः । यमस्य । सदनम् । अग्नि-दूतः । अरम्-कृतः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे दुष्ट जीव] (ते) तेरे (तान्) उन [प्रसिद्ध] (सप्त) सात

प्रादिसमासः। अत्येव। अतिशयेन अतिक्रम्य तिरस्कृत्य। यः। विरोधी जनः। **मरुतः**। अ० १। २०। १। मृङ् प्राणत्यागे अन्तर्भावितण्यर्थः-उति। हे शत्रुनाशकाः। शूराः। **मन्यते**। मन गर्वे चुरादिः, छन्दसि दिवादिः। मानयते। गर्वयते। **नः**। अस्मान्। **ब्रह्म**। अ० १। ८। ४। वेदविज्ञानम्। धनम्। **निन्दिषत्**। णिदि कुत्सायाम्, इदित्वान्नुम्। लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४। ९४। इत्यडागमः। सिब् बहुलं लेटि। ३। १। ३४। इति सिप्। निन्देत्। दूषयेत्। **क्रियमाणम्**। कृञ् करणे-कर्मणि शानच्, मुक् च। अनुष्ठीयमानम्। विधीयमानम्। **तपूंषि**। अर्त्तिपॄवपियजितनिधनितपिभ्यो नित्। उ० २। ११६। इति तप दाहे-उसि, नित्वाद् आद्युदात्तः। तापकानि तेजांसि आयुधानि वा-इति श्री सायणः। **वृजिनानि**। वृजेः किच्च। उ०.२। ४७। इति वृजी वर्जने-इनच्। धर्मवर्जकानि पापकर्माणि। **ब्रह्मद्विषम्**। ब्रह्म+द्विष अप्रीतौ-क्विप्। वेदविरोधिनम्। **द्यौः**। गमेर्डोः। उ० २। ६७। इति द्युत दीप्तौ-डो। गोतो णित्। पा० ७। १। ९०। इति वृद्धिः। द्योतमानः परमेश्वरः। **अभि-सम्-तपाति**। तप दाहे-लेट्। आडागमः। सर्वतः संदहेत् ॥

७—**सप्त**। सप्यशूभ्यां तुट् च। उ० १। १। १५७। इति षप समवाये-कनिन्,

(प्राणान्) प्राणों को और (अष्टौ) आठ (मन्यः=मन्याः) नाड़ियों को (ब्रह्मणा) वेद नीति से (वृश्चामि) मैं तोड़ता हूं। तू (अग्निदूतः) अग्नि को दूत बनाता हुआ और (अरंकृतः) शीघ्रता करता हुआ (यमस्य) न्यायकारी वा मृत्यु के (सादनम्=सदनम्) घर में (अयाः) आ पहुंचा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सात प्राण अर्थात् दो आंख, दो नथने, दो कान और एक मुख. और आठ प्रधान नाड़ियां वा अवयव अर्थात् दो दो दोनों भुजाओं और दोनों टांगों के हैं। तात्पर्य यह है। यथादण्ड शत्रु के अंगों को छेद कर अनेक क्लेशों के साथ भस्म करके शीघ्र नाश कर देना चाहिये कि फिर अन्य पुरुष दुष्ट कर्म न करने पावें ॥ ७ ॥

लिपि प्रमाद से [मन्याः] के स्थान में (मन्यः) पद जान पड़ता है।

टिप्पणी—देखिये अथर्ववेद १० । २ । ६ ॥

कः स॒प्त खानि॒ वि त॑तर्द शी॒र्षणि॒ कर्णा॑वि॒मौ नासि॑के॒ चक्ष॑णी मु॒खम्। येषां॑ पुरु॒त्रा वि॑ज॒यस्य॑ म॒ह्मनि॒ चतु॑ष्पादो द्वि॒पदो॒ यन्ति॒ याम॑म् ॥

(कः) प्रजापति ने (शीर्षणि) मस्तक में (सप्त) सात (खानि) गोलक (वि ततर्द) खोदे, (इमौ कर्णौ) यह दोनों कान, (नासिके) दो नथने,

---

तुट् च । सप्त संख्याकान् । **प्राणान्** । प्र+अन जीवने-करणे घञ्, प्राणिति जीवत्यनेन। शीर्षण्यानि कर्णनासिकादीन्द्रियाणि । **अष्टौ** । सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति अशू व्याप्तौ-कनिन, तुट् च । अष्टाभ्य औश् । पा० ७ । १ । २१ । इति औश् । अष्टसंख्याकाः । **मन्यः** । मन धृतौ-क्यप्, स्त्रियां टाप् । लिपिप्रमादेन मन्याः-इत्यस्य स्थाने मन्यः, इति जातमनुमीयते॥ ग्रीवायाः पश्चात् शिराः । अत्र तु हस्तपादद्वयस्थान् अष्टप्रधानावयवान् । **वृश्चामि** । छिनद्मि । **ब्रह्मणा** । वेदज्ञानेन । धर्मेण । **अयाः** । या प्रापणे-लङ् । त्वं प्राप्तवानसि । **यमस्य** । यम प्रतिबन्धे-अच्, यमयति नियमयति जीवानां पुण्यापुण्यफलम् । न्यायकारिणः पुरुषस्य । मृत्योः । **सादनम्** । षद गतौ-ल्युट्, सीदन्त्यत्र ।

(चक्षुणी) दो आंखें, और (मुखम्) एक मुख। (येषाम्) जिनके (विजयस्य) विजय की (मह्मनि) महिमा में (चतुष्पादः) चौपाये और (द्विपदः) दो पाये जीव (पुरुत्रा) अनेक प्रकार से (यामम्) मार्ग (यन्ति) चलते हैं॥

आ द॑धामि ते प॒दं समि॑द्धे जा॒तवे॑दसि ।

अ॒ग्निः शरी॑रं वेवे॒ष्ट्व॒सुं॑ वागपि॑ गच्छतु ॥ ८ ॥

आ । द॒धा॒मि॒ । ते॒ । प॒दम् । सम्-इ॑द्धे । जा॒त-वे॑दसि । अ॒ग्निः । शरी॑रम् । वे॒वे॒ष्टु॒ । असु॑म् । वाक् । अपि॑ । ग॒च्छ॒तु॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे दुराचरी] (ते) तेरे (पदम्) पद [वा स्थान] को (समिद्धे) जलती हुई (जातवेदसि) वेदना अर्थात् पीड़ा देने वाली अग्नि में (आ+दधामि) डाले देता हूं। (अग्निः) अग्नि (शरीरम्) [तेरे] शरीर में (वेवेष्टु) प्रवेश करे, और (वाक्) वाणी (अपि) भी (असुम्) [अपने] प्राण [अंश] में (गच्छतु) जावे ॥ ८ ॥

सांहितको दीर्घः। सदनम्। गृहम्। **अग्निदूतः**। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अग्निर्दूतः अनुचरो यस्य स तथोक्तः। **अरंकृतः**। ऋ गतौ-अच्, इयर्त्तिगच्छत्यनेनेति अरं शीघ्रम्। शीघ्रीकृतः। शीघ्रं न्यायालये प्राप्तः॥

८—**आ**। समन्तात्। **दधामि**। स्थापयामि। **ते**। तव। त्वदीयम्। **पदम्**। नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। पा० ३।१।१३४। इति पद गत्याम्-अच्। व्यवसायम्। स्थानम्। पादम्। **समिद्धे**। सम्+इन्धी दीप्तौ-क्त। प्रदीप्ते। **जातवेदसि**। अ० १।७।२। जात+विद वेदनायां, ज्ञाने, सत्तायाम्। यद्वा विद्लृ लाभे-असुन्। जातं वेदो वेदना दुःखं यस्मात् स जातवेदाः, तस्मिन् पीड़ाजनके अग्नौ। **अग्निः**। पावकः। **शरीरम्**। कॄशॄपॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन्। उ० ४।३०। इति शॄ हिंसायाम्-ईरन्। शीर्य्यते हिंस्यते रोगादिना यत्। गात्रम्। कायम्। **वेवेष्टु**। विष्लृ व्याप्तौ। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ। पा० ७।४।७५। प्रविशतु। **असुम्**। शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसि। उ० १।१०। इति असु क्षेपणे-उ प्रत्ययः। असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति-निरु० ३।८। प्राणम्। स्वकारणम्। **वाक्**। क्विप् वचिप्रच्छिश्रि०। उ० २।

भावार्थ—दुराचारी मनुष्य राजदण्ड और ईश्वर नियम से ऐसा शारीरिक और मानसिक ताप पाता है जैसे कोई प्रज्वलित अग्नि में जल कर कष्ट पाता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१—५ । ब्रह्मचारी देवता ॥ १—३, ५ त्रिष्टुप्, ४ अनुष्टुप्छन्दः ॥

ब्रह्मचारिणः समावर्त्तने वस्त्रादिधारणोपदेशः—ब्रह्मचारी के समावर्त्तन, विद्या समाप्ति पर वस्त्र आदि के लिये उपदेश ॥

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥१॥

आयुः-दाः । अग्ने । जरसम् । वृणानः । घृत-प्रतीकः । घृत-पृष्ठः । अग्ने । घृतम् । पीत्वा । मधु । चारु । गव्यम् । पिता-इव । पुत्रान् । अभि । रक्षतात् । इमम् ॥ १ ॥

भावार्थ—(अग्ने) हे तेजस्विन् परमेश्वर ! तू (आयुर्दाः) जीवन दाता और (जरसम्) स्तुति योग्य कर्म को (वृणानः) स्वीकार करने वाला, (घृतप्रतीकः) प्रकाश स्वरूप और (घृतपृष्ठः) प्रकाश [वा सार तत्त्व] से सींचने वाला है । (अग्ने) हे तेजस्विन् ईश्वर ! [अग्नि के समान] (मधु)

---

५७ । इति वच कथने-क्विप्, दीर्घोऽसम्प्रसारणं च । वागिन्द्रियम् । गच्छतु । प्राप्नोतु ॥

१—आयुर्दाः । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति आयुः+दा दाने-विच् । आयुः-अ० १ । ३० । ३ । जीवनदाता । अग्ने । हे तेजस्विन् परमेश्वर ! जरसम् । अ० १ । ३० । ३ । जरस्-अर्शआद्यच् । स्तुत्यम् । प्रशंसनीयं कर्म । वृणानः । वृङ् संभक्तौ-लटः शानच् । श्नाभ्यस्तयोरातः । पा० ६ । ४ । ११२ । इत्याकारलोपः । संभजमानः । स्वीकुर्वाणः । घृतप्रतीकः । अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८६ । इति घृ भासि सेके च-क्त ।

मधुर, (चारु) निर्मल, (गव्यम्) गौ के (घृतम्) घृत को (पीत्वा) पीकर, (पिता इव) पिता के समान (पुत्रान्) पुत्रों को (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] की (अभि) सब ओर से (रक्षतात्) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि गौ के घृत, काष्ठ आदि हवन सामग्री से प्रज्वलित होकर, हवन, अन्न संस्कार, शिल्प प्रयोग आदि में उपयोगी होता है, वैसे ही परमेश्वर वेद विद्या के और बुद्धि, अन्न आदि पदार्थों के दान से मनुष्यों पर उपकार करता है, इसी प्रकार मनुष्यों को परस्पर उपकारी होना चाहिये ॥१॥

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः। बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥

परि। धत्त। धत्त। नः। वर्चसा। इमम्। जरा-मृत्युम्। [जरा-अमृत्युम्।] कृणुत। दीर्घम्। आयुः। बृहस्पतिः। प्र। अयच्छत्। वासः। एतत्। सोमाय। राज्ञे। परि-धातवै। ऊं इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (नः) हमारे लिये (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] को (परि+धत्त) वस्त्र पहराओ, और (वर्चसा) तेज वा अन्न से (धत्त)

अलीकादयश्च। उ० ४। २५। इति प्रति+इण् गतौ—कीकन्। घृता दीप्ताः प्रतीका अङ्गानि यस्य सः। प्रकाशस्वरूपः। **घृतपृष्ठः**। तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः। उ० २। १२। इति पृषु सेके—थक् प्रत्ययान्तो निपातः। घृतस्य पृष्ठं सेचनं यस्मात् सः। प्रकाशेन सेचकः। **घृतम्**। आज्यम्। **पीत्वा**। पानेन स्वीकृत्य। **मधु**। मन—उ। मधुरम्। **चारु**। अ० २। ५। १। मनोहरम्। **गव्यम्**। गोपयसोर्यत्। पा० ४। ३। १६०। इति गो—यत्। वान्तो यि प्रत्यये। पा० ६। १। ७६। इति अव्। गोसम्बन्धि। **पिता**। पाता पालकः, जनकः। **इव**। यथा। **पुत्रान्**। अ० १। ११। ५। पूङ् शोधे—क्त्। शुभकर्मणा मातापित्रादिशोधकान्। तनयान्। अपत्यानि। **अभि**। सर्वतः। **रक्षतात्**। हेस्तातङ् आदेशः। पाहि। **इमम्**। एनमुपासकम्। ब्रह्मचारिणम् ॥

२—**परि धत्त**। अन्तर्भावितण्यर्थः। परिधापयत। वस्त्रेण अलङ्कुरुत। **धत्त**। पोषयत। **नः**। अस्मभ्यम्। अस्मदर्थम्। **वर्चसा**। तेजसा। अन्नेन,

पुष्ट करो, [तथा इस का] (दीर्घम्) बड़ा (आयुः) आयु, वा आय, अर्थात् धन प्राप्ति, और (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति से अमरपन, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु (कृणुत) करो । (बृहस्पतिः) बड़े बड़े [विद्वानों] के रक्षक [राजा वा प्रधानाचार्य] ने (एतत्) यह (वासः) वस्त्र (सोमाय) सूर्य समान (राज्ञे) ऐश्वर्य वाले [ब्रह्मचारी] को (उ) ही (परिधातवै) धारण करने के लिये (प्र+अयच्छत्) दान किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी विद्या समाप्त कर चुके; विद्वान् पुरुष परस्पर उपकार के लिये उस की योग्यता का सत्कार करें और राजा वा आचार्य विशेष वस्त्र आदि से अलंकृत करके उस का मान बढ़ावें जिस से विद्या का प्रचार और आपस में प्रीति अधिक होवे ॥ २ ॥

२—जैसे विद्वान् पुरुष विद्यादि चिह्नों से अलंकृत होकर पुरुषों में दर्शनीय होता है, वैसे ही मनुष्य, मनुष्य-शरीर का चोला पाकर सृष्टि में सर्व श्रेष्ठ गिना जाता है ॥

टिप्पणी—यह मन्त्र अथर्ववेद १६ । २४ । ३ । में भी है ॥

निघ० ३ । ७ । **इमम्** । दर्शनीयं ब्रह्मचारिणम् । **जरामृत्युम्** । जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा । पिद्भिदादिभ्योऽङ् । पा० ३ । ३ । १०४ । इति जॄ-ष् वयोहानौ वेदे तु स्तुतौ च-अङ् । ऋदृशोऽङि गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । टाप् । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः-निरु० १० । ८ । भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ । उ० ३ । २१ । इति मृङ् प्राणत्यागे-त्युक् । जरया स्तुत्या अमृत्युम् अमरत्वम् । यद्वा । जरया स्तुत्या वृद्धत्वेन वा मृत्युं मरणम् । **कृणुत** । कुरुत । **दीर्घम्** । दॄ विदारणे-घञ् । आयतम् । प्रवृद्धम् । **आयुः** । अ० १ । ३० । ३ । इण् गतौ-उसि । जीवितकालः । जीवनसाधनम् । आयः । धनप्राप्तिः । **बृहस्पतिः** । अ० १ । ८ । २ । बृहत्+पतिः, सुट्तलोपौ । बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा-निरु० १० । ११ । बृहतां विदुषां रक्षकः । **प्र+अयच्छत्** । दाण् दाने-लङ् । पाघ्राध्मास्थादाण्० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति यच्छादेशः । अददात् । **वासः** । वसेर्णित् । उ० ४ । २१८ । इति वस आच्छादने-असुन्, स च णित् । वस्त्रम् । वासनम् । स्थानम् । **एतत्** । पुरोवर्त्ति । **सोमाय** । अ० १ । ६ । २ । षु प्रसवैश्वर्ययोः-मन् । सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः—निरु० १४ । १२ । सूर्यवत्तेजस्विने । **राज्ञे** । अ० १ । १० । १ । राजति=ईष्टे । निघ० २ । २१ । ऐश्वर्यवते पुरुषाय । **परि-धातवै** । तुमर्थे सेसेन्० पा० ३ । ४ । ६ । इति तवै प्रत्ययः । परिधातुम् । **उ** । एव ॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उं । शतं च जीवं शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥३॥

परि । इदम् । वासः । अधिथाः । स्वस्तये । अभूः । गृष्टीनाम् । अभिशस्ति-पाः । ऊं इति । शतम् । च । जीवं । शरदः ॥ पुरूचीः । रायः । च । पोषम् । उप-संव्ययस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन् !] (इदम्) इस (वासः) वस्त्र को (स्वस्तये) आनन्द बढ़ाने के लिये (परि+अधिथाः) तूने धारण किया है, और (गृष्टीनाम्) ग्रहणीय गौओं की (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षा करने वाला (उ) अवश्य (अभूः) तू हुआ है । (च) निश्चय करके (पुरूचीः) बहुत पदार्थों से व्याप्त (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीव) तू जीवित रह, (च) और (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि [वृद्धि] को (उप-सं-व्ययस्व) अपने सब ओर धारण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ब्रह्मचारी को विदित कर दें कि यह उस की विद्या का सन्मान इस लिये किया गया है कि संसार में गौ आदि उपकारी पदार्थों

३—**इदम्** । अ० २ । १ । १ । पुरोवर्त्ति । **वासः** । म० २ । वस्त्रम् । **परि+अधिथाः** । स्थाघ्वोरिच्च । पा० १ । २ । १७ । इति धाञो लुङि इकारोऽन्तादेशः, सिच्च किद्वत् । ह्रस्वादङ्गात् । पा० ८ । २ । २७ । इति सिज्लोपः । परिहितवानसि । प्राप्तवानसि । **स्वस्तये** । अ० १ । ३० । २ । सु+अस सत्तायाम्-ति प्रत्ययः । क्षेमाय । **अभूः** । भू-लुङ् । त्वं वर्त्तमानोऽभूः । **गृष्टीनाम्** । ग्रहज् उपादाने-क्तिच् । पृषोदरादित्वात् साधुः । ग्राह्याणां गवाम् । **अभिशस्तिपाः** । अभि-शंसु स्तुतौ, हिंसायां च-क्तिन् । +पा रक्षणे-विच् । अभिशस्तिः अभितो विशसनं हिंसा, तन्निमित्ताद् भयात् पालकः-इति सायणः । हिंसाभयाद् रक्षकः । **शतम्** । बहुनाम-निघ० ३ । १ । बह्वीः । **जीव** । जीव् प्राणे । प्राणान् धारय । **शरदः** । अ० १ । १० । २ । ऋतुविशेषान् । संवत्सरान् । **पुरूचीः** । ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति पुरु+अञ्चू गतिपूजनयोः-क्विन् । अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति । पा० । ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ ।

और विद्या धन और सुवर्ण आदि धन की वृद्धि करके कीर्तियुक्त जीवन व्यतीत करे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अथर्ववेद १९। २४। ६ में है ॥

एह्यश्मा॑नमा ति॑ष्ठाश्मा॑ भवतु ते तनूः ।
कृण्वन्तु विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे शरदः॑ शतम् ॥४॥

आ। इ॒हि। अश्मा॑नम्। आ। ति॒ष्ठ॒। अश्मा॑। भ॒व॒तु॒। ते॒। त॒नूः। कृ॒ण्वन्तु॑। विश्वे॑। दे॒वाः। आयुः॑। ते॒। श॒रदः॑। श॒तम् ॥४॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन्] (एहि=आ+इहि) तू आ, (अश्मानम्) इस शिला पर (आ+तिष्ठ) चढ़, (ते) तेरा (तनूः) तन [शरीर] (अश्मा) शिला, [शिला जैसा दृढ़] (भवतु) होवे। (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण वाले [पुरुष और पदार्थ] (ते) तेरी (आयुः) आयु को (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (कृण्वन्तु) [दीर्घ] करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी को शिक्षा दें कि वह यथानियम पथ्यसेवन, व्यायाम, ब्रह्मचर्य और पौरुष करके अपने शरीर को दृढ़ और स्वस्थ रक्खे, और विद्वानों के मेल, और उत्तम पदार्थों के सेवन से पूर्ण आयु भोगकर संसार में उपकार करे ॥ ४ ॥

अथर्व० १। २। २। में आया है " (अश्मानं तन्वं कृधि) शरीर को पत्थर सा दृढ़ बना " ॥

अत्र वार्त्तिकम्। अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्। इति ङीप्। बहुविधान् पदार्थान् व्याप्नुवतीः। **रायः**। रै-ङस् विभक्तिः। धनस्य। **पोषम्**। पुष्ल पोषणे-घञ्। पुष्टिम्। समृद्धिम्। **उप-सम्-व्ययस्व**। व्येञ् आच्छादने। परिधत्स्व ॥

४—**आ+इहि**। आगच्छ। **अश्मानम्**। अ०१। २। १। प्रस्तरम्। **अश्मा**। पाषाणशिला। पाषाणवद् दृढ़ा। **आ+तिष्ठ**। अधितिष्ठ। आरूढो भव। **तनूः**। तनु विस्तारे-ऊ। शरीरम्। **कृण्वन्तु**। कुर्वन्तु। **विश्वे**। सर्वे। **देवाः**। दिव्यगुणाः पुरुषाः पदार्था वा। **आयुः**। म० २। जीवनम्। **ते**। तव। युष्मत्तत्तक्षुष्वन्तः पादम्। पा० ८। ३। १०३। इति सकारस्य षत्वम्। **शरदः**। शरदृतून्। संवत्सरान्। **शतम्**। बह्वीः। बहुसंवत्सरान् ॥

यस्यं ते वासः प्रथमवास्यं १ हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः। तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥ ५ ॥

यस्यं। ते। वासः। प्रथम-वास्यम्। हरामः। तम्। त्वा। विश्वे। अवन्तु। देवाः। तम्। त्वा। भ्रातरः। सु-वृधा। वर्धमानम्। अनु। जायन्ताम्। बहवः। सु-जातम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन्] (यस्य) जिस (ते) तेरे (प्रथमवास्यम्) प्रधानता से धारण योग्य (वासः) वस्त्र को (हरामः) हम लाते हैं [धारण कराते हैं] (तम्) उस (त्वा) तेरी (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण (अवन्तु) रक्षा करें। और (तम्) उस (सुवृधा) उत्तम सम्पत्ति से (वर्धमानम्) बढ़ते हुये, (सुजातम्) पूजनीय जन्म वाले (त्वा) तेरे (अनु) पीछे (बहवः) बहुत से (भ्रातरः) भाई (जायन्ताम्) प्रकट हों ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी इस प्रकार विद्वानों में बड़ा मान पावे, तब वह उत्तम गुणों की प्राप्ति से ऐसी वृद्धि और उन्नति करे कि उसी के समान उस के दूसरे भ्रातृगण संसार में यश प्राप्त करें ॥ ५ ॥

टिप्पणी—इस सूक्त में (वासः) पद का चोला अर्थात् मनुष्य शरीर का अर्थ करने से आध्यात्मिक विषय का विनियोग भी हो सकता है—

टिप्पणी २—मन्त्र २ देखिये ॥

५—**वासः**। वस्त्रम्। शरीरम्। **प्रथमवास्यम्**। प्रथ ख्यातौ—अमच्। ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३। १। १२४। इति वस आच्छादने—कर्मणि ण्यत्। तित् स्वरितः। पा० ६। १। १८५। इति स्वरितः। प्रथमं प्रधानत्वेन वास्यं परिधानीयम्। **हरामः**। प्रापयामः। **तम्**। तादृशम्। **त्वा**। त्वां ब्रह्मचारिणमात्मानं वा। **अवन्तु**। रक्षन्तु। **भ्रातरः**। नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृ०। उ० २। ९५। इति टुभ्राजृ दीप्तौ—तृन्। यद्वा। भृञ् भरणे—तृन्। भ्राजमानाः परस्परं दीप्यमानाः। परस्परपोषकाः। सहोदराः। भ्रातृवत् परस्परपोषणशीलाः पुरुषाः। **सुवृधा**। वृधु वृद्धौ—क्विप्। महावृद्ध्या। समृद्ध्या। **वर्धमानम्**। वृधु—शानच्। वृद्धिविशिष्टम्। **अनु**। अनुसृत्य। **जायन्ताम्**। जनी प्रादुर्भावे। प्रादुर्भवन्तु। उत्पद्यन्ताम्। **बहवः**। अनेकाः। **सु-जातम्**। जनी—क्त। प्रशस्तजन्मानम् ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—६ ॥ अलक्ष्मीर्दुर्भिक्षता वा देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

अलक्ष्मीर्मनुष्यैः प्रयत्नेन नाशनीया-निर्धनता मनुष्यों को प्रयत्न से नाश करनी चाहिये ॥

निः सालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥

निः-सालाम् । धृष्णुम् । धिषणम् । एक-वाद्याम् । जिघत्-स्वम् । सर्वाः । चण्डस्य । नप्त्यः । नाशयामः । सदान्वाः ॥१॥

भाषार्थ—(निः सालाम्) विना साला वा घर वाली, (धृष्णुम्) भयानक रूपवाली, (एकवाद्याम्) [दीनता का] एक वचन बोलने वाली, (धिषणम्) बोध वा उत्तम वाणी को (जिघत्स्वम्) खालेने वाली, (चण्डस्य) क्रोध की (सर्वाः) इन सब (नप्त्यः=नप्तीः) सन्तानों, (सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली यद्वा, दानवों, दुष्कर्मियों के साथ रहने वाली [निर्धनता की पीड़ाओं] को (नाशयामः) हम मिटा देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—निर्धनता के कारण मनुष्य घर से निकल जाता, कुरूप हो जाता, दीन वचन बोलता और मतिभ्रष्ट हो जाता है, और निर्धनता की पीड़ायें

१—निः सालाम् । षल गतौ-घञ् । सालः प्राकारोऽस्त्यस्याः सा साला गृहम् । अर्शआदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति अच् । टाप् । निर्गता सालायास्ताम् । निर्गृहाम् । धृष्णुम । स्त्री० । असिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः । पा० ३ । २ । १४० । इति धृषि क्रोधे हिंसे, शक्तिबन्धे-क्नु । धर्षणशीलां भयस्य जनयित्रीम् । धिषणाम् । धृषेर्धिष च सञ्ज्ञायाम् । उ० २ । ८२ इति ञिधृषा प्रागल्भ्ये-क्यु, धिषादेशश्च । यद्वा, धिष शब्दे-क्यु, धिषणा वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । बुद्धिः, कोपे च । बोधं वाचं वा । (जिघत्स्वम्) इत्यस्य कर्म । एकवाद्याम् । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वद वाचि ण्यत् । एकम् एकप्रकारमेव वाद्यं दीनतारूपं वचनं यस्याः सा । ताम् अलक्ष्मीम् ।

क्रोध अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुष्टताओं से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को चाहिये कि दूरदर्शी होकर पुरुषार्थ से धन प्राप्त करके निर्धनता को न आने दे और सदा सुखी रहे ॥ १ ॥

ऋग्वेद म० १० । सू० १५५ । म० १ में ऐसा वर्णन है।

अरा॑यि॒ काणे॒ विक॑टे गि॒रिं ग॑च्छ सदान्वे ।

शि॒रिम्बि॑ठस्य॒ सत्व॑भि॒स्तेभि॑ष्ट्वा चातयामसि ॥ १ ॥

(अरायि) हे अदान शील [कंजूसिनि] ! (काणे) हे कानी ! (विकटे) हे लंगड़ी ! (सदान्वे=सदानोनुवे शब्दकारिके) सदा चिल्लाने वाली ! (गिरिम्) पहाड़ को (गच्छ) चली जा ! (शिरिम्बिठस्य) मेघ के (तेभिः) उन (सत्वभिः) जलों से (त्वा) तुझे (चातयामसि) हम मिटाये देते हैं ॥

इस ऋग्वेद मन्त्र की व्याख्या निरु० ६ । ३० । में है। उसके और निरुक्त टीकाकार देवराज यज्वा के आधार पर यहां अर्थ किया है ॥

जिघत्स्वः । लुङ्सनोर्घसॢट । पा० २ । ४ । ३७ । इति अद भक्षणे + सन्-घसॢादेशः । ततः । सनाशंसभिक्ष उः । पा० ३ । २ १६८ इति उः, स्त्रियाम् ऊङ् वा । अत्तुमिच्छुम् । **सर्वाः** । निखिलाः । **चण्डस्य** । नपुंसकलिंगम् । चडि कोपे-पचाद्यच् । यद्वा । अमन्ताड् डः । उ० १ । ११४ । इति चण हिंसे-डः । डस्य न इत्वम् । कोपस्य । क्रोधस्य । **नप्त्यः** । न पतन्ति पितरो येनेति नप्ता । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । उ० २ । ९५ । इति न + पत अधोगतौ-तृन् । ऋन्नेभ्यो ङीप् पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । छन्दसि रलोपो जस्त्वं च । नप्त्र्यः । अपत्यभूताः । **नाशयामः** । हन्मः । **सदान्वाः** । नौतेः शब्दकर्मणो यङ् लुगन्तात् । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पचाद्यच् । न धातु लोप आर्धधातुके । पा० १ । १ । ४ । इति गुणप्रतिषेधे उवङ्स्थाने छान्दसो यण् आदेशः, टाप् च । सदान्वे सदानोनुवे शब्दकारिके-निरु० ६ । ३० । दुर्भिक्षाधिदेवतोच्यते, कालकर्णी वा अलक्ष्मीः-इति तत्र टीकायां देवराज यज्वा । सदानोनुवाः । सर्वदा नोनूयमानाः शब्दायमानाः सर्वप्रकारा दरिद्रतादिविपत्तीः यद्वा । स + दानवाः । केशाद् वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०९ । अत्र वार्त्तिकम् । अन्येभ्योऽपि दृश्यते । इति व प्रत्ययो मत्वर्थे । अकारलोपः । दानवैश्छेदनशीलैः सह वर्त्तमानाः ॥

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात् ।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

निः । वः । गो-स्थात् । अजामसि । निः । अक्षात् । निः । उप-आनसात् । निः । वः । मगुन्द्याः । दुहितरः । गृहेभ्यः । चातयामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वः) तुमको (गोष्ठात्) [अपनी] गोठ अर्थात् वाचनालाय वा गोशाला से (निर्+अजामसि) हम निकाले देते हैं, (अक्षात्) व्यवहार से (निर्) निकाले, (उपानसात्) अन्नगृह वा धान्य की गाड़ी से (निर्) निकाले देते हैं। (मगुन्द्याः) हे ज्ञान को मिथ्या करनेवाली [कुवासना वा निर्धनता] की (दुहितरः) पुत्रियो ! [पुत्री समान उत्पन्न पीड़ाओं] (वः) तुम को (गृहेभ्यः) [अपने] घरों से (निर्) निकालकर (चातयामहे) हम नाश करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य धन के उपार्जन और व्यय करने में ऐसा प्रबन्ध करे

२—वः । युष्मान् । गोष्ठात् । सुपि स्थः । पा० ३ । २ । ४ । इति गो+ष्ठा गतिनिवृत्तौ–क । यद्वा । घञर्थे कः । अम्बाम्बगोभूमि पा० ८ । ३ । ९७ । इति षत्वम् । गावो वाचो धेन्वादिपशवो वा तिष्ठन्ति यत्र । गोष्ठयाः । वाचनालयात् । गोशालायाः । निर्+अजामसि । अज गतिक्षेपणयोः । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस् इत्यस्य इकारागमः । निरजामः । निः सारयामः । निर् निरजामसि । अक्षात् । अक्षू व्याप्तौ–पचाद्यच् घञ् वा । व्यवहारात् उपनसात् । । अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । पा० ५ । ४ । १०७ । इति अनस् शब्दात् टच् समासान्तः । अन जीवने–असुन् । अनः, अन्नम् । शकटम् । जन्म । अनसः समीपम् उपानसं धान्यगृहम् । यद्वा । अनोऽश्मायःसरसां जातिसंज्ञयोः । पा० ५ । ४ । ९४ । इति तत्पुरुषे टच् । उपगतं च तद् अनश्च उपानसं धान्यपूर्णं शकटम् । तस्मात् । धान्यगृहात् । धान्यपूर्णशकटात् । मगुन्द्याः । मनु बोधे–ड+गुद्रि मिथ्योक्तौ–अच्, ङीप् च, छन्दसि रलोपः । मं ज्ञानं गुन्द्रयति मिथ्या वदति सा मगुन्द्री तस्याः । ज्ञाननाशयित्र्याः कुवासनाया

कि पठन पाठन, गौ आदि पशुओं, व्यापार, और अन्न आदि में हानि न हो किन्तु सब पदार्थों के यथावत् संग्रह से सर्वदा सुख की वृद्धि रहे ॥ २ ॥

टिप्पणी—गोठ (गोष्ठ) शब्द राजस्थान में बात चीत के स्थान अर्थ में लाया जाता है ।

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

असौ । यः । अधरात् । गृहः । तत्र । सन्तु । अराय्यः । तत्र । सेदिः । नि । उच्यतु । सर्वाः । च । यातु-धान्यः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (यः) जो (गृहः) घर (अधरात्) नीचे की ओर है, (तत्र) वहां पर (अराय्यः) निर्धनता वाली [विपत्तियां] (सन्तु) रहें । (तत्र) वहां ही (सेदिः) महामारी आदि क्लेश (नि+उच्यतु) नित्य निवास करे, (च) और (सर्वाः) सब (यातुधान्यः) पीड़ा देने वाली क्रियायें भी ॥ ३ ॥

निर्धनतायाः । **दुहितरः** । नप्तृनेष्टृ......दुहितृ । उ० २ । ९५ । इति दुह प्रपूरणे-तृन्, निपातनाद् गुणाभावः । दोग्धि प्रपूरयति कार्याणीति दुहिता । पुत्र्यः । पुत्रीवद् उत्पन्नाः । **गृहेभ्यः** । गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह उपादाने-क । गेहात् । **निर्** । निःसार्य निःशेषेण वा । **चातयामहे** । चातयतिर्नाशने-निरु० ६ । ३० । नाशयामः ॥

३—**अधरात्** । अधस्-आति । अधोभागे । नीचस्थाने । **गृहः** । म० २ । गेहम् । **अराय्यः** । रा दानग्रहणयोः—घञ् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् आगमः । राति ददातीति रायो धनम् । न रायः, अरायः, अधनम् । केशाद्वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०९ । इत्यत्र वार्त्तिकम् । छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । इति मत्वर्थीय ईकारः । अरायः, अधनं यस्याः सा अरायी । अलक्ष्म्यः । विपत्तयः । **तत्र** । अधोदेशे । **सेदिः** । आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । इत्यत्र वार्त्तिकम् । किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि

भावार्थ—जैसे राजा चौर आदि दुष्टों को पकड़ कर कारागार में रखता है, ऐसे ही मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक निर्धनता, दुर्भिक्षता, और दुःखदायी रोगों को हटा कर आनन्दित रहना चाहिये ॥ ३ ॥

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥

भूत-पतिः । निः । अजतु । इन्द्रः । च । इतः । सदान्वाः । गृहस्य । बुध्ने । आसीनाः । ताः । इन्द्रः । वज्रेण । अधि । तिष्ठतु ॥४॥

भाषार्थ—(भूतपतिः) न्याय वा सत्य वा प्राणियों का रक्षक (च) और (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला पुरुष (सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों दुष्कर्मियों के साथ रहने वाली [निर्धनता की पीड़ाओं] को (इतः) यहां से (निर्+अजतु) निकाल देवे। (इन्द्रः) वही महा प्रतापी पुरुष (गृहस्य) [हमारे] घर की (बुध्ने) जड़ में (आसीनाः) बैठी हुई (ताः) उन [पीड़ाओं] को (वज्रेण) वज्र [कुल्हाड़े आदि) से (अधि+तिष्ठतु) वश में करे ॥ ४ ॥

सदादिभ्यो दर्शनात् । इति पद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—कि प्रत्ययः । तस्य लिड्वद्भावाद् द्विर्वचने एत्वाभ्यासलोपौ । निर्ऋतिः । विषादः । न्युच्यतु । उच समवाये दिवादिः । नित्यं समवैतु । सर्वाः । निखिलाः । यातुधान्यः । अ० १ । ७ । १ । यत ताड़ने-उण्+धाञ्-युच्, ङीष् । यातनाप्रदाः पीड़ादात्र्यः क्रियाः । (न्युच्यन्तु) इति शेषः ॥

४—भूतपतिः । भू सत्तायां प्राप्तौ च-कर्त्तरि क्त । भूतस्य न्यायस्य सत्यस्य वा, अथवा भूतानां प्राणिनां पालकः पुरुषः । निर् । निसार्य । अजतु । प्रेरयतु । बहिष्करोतु । इन्द्रः । अ० १ । २ । ३ । इदि परमैश्वर्ये-रन् इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मण इदञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा दरयिता च यज्वानाम् निरु० १० । ८ । परमैश्वर्यवान् महात्मा । इतः । अस्मात् स्थानात् । सदा-

भावार्थ—क्लेशों के भीतरी कारणों को भली भांति विचार कर राजा और गृहपति सब पुरुषों को सचेत करके क्लेशों से बचावें और आनन्द में रक्खें ॥४॥

यदि॒ स्थ क्षे॑त्रि॒याणां॒ यदि॑ वा॒ पुरु॑षेषिताः ।
यदि॒ स्थ दस्यु॑भ्यो जा॒ता नश्य॑ते॒तः स॒दान्वाः॑ ॥ ५ ॥

यदि॑ । स्थ । क्षे॒त्रि॒याणा॑म् । यदि॑ । वा॒ । पुरु॑ष-इ॒षि॒ताः । यदि॑ । स्थ । दस्यु॑-भ्यः । जा॒ताः । नश्य॑त । इ॒तः । स॒दान्वाः॑ ॥५ ॥

भाषार्थ—[हे पीड़ाओ !] (यदि) यदि (क्षेत्रियाणाम्) शरीर सम्बन्धी, वा वंश सम्बन्धी रोगों की (वा) अथवा (यदि) यदि (पुरुषेषिताः) अन्य पुरुषों की प्रेषित (स्थ) हो, (यदि) जो (दस्युभ्यः) चोर आदिकों से (जाताः) प्रकट हुयी (स्थ) हो, वह तुम (सदान्वाः) हे सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों के साथ रहने वाली [पीड़ाओ !] (इतः) यहां से (नश्यत) हट जाओ ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को अपने कुपथ्य सेवन, ब्रह्मचर्य आदि के खण्डन से अथवा माता पिता आदि के कुसंस्कार से, शारीरिक वा अध्यात्मिक, और शत्रु चोर आदि के अन्यथा व्यवहार से आधिभौतिक पीड़ायें प्राप्त होती हैं। मनुष्य पुरुषार्थ से सब प्रकार के क्लेशों का नाश करके आनन्द से रहें ॥५॥

न्वाः । म० १ । सदा+ नोनुवाः । आक्रोशकारिणीः, यद्वा, । स+ दानवाः, दानवैः सह वर्त्तमानाः पीड़ाः ॥

५-यदि । पक्षान्तरम् । चेत् । स्थ । यूयं भवथ । क्षेत्रियाणाम् । अ० २ । ८ । १ । स्वकीये देहे वंशे वा जातानां रोगाणाम् । पुरुषेषिताः । पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । इति पुर अग्रगतौ—कुषन् । पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः । इष गतौ यद्वा, ईष दाने—कर्मणि निष्ठा, इडागमः । अन्यजनैः प्रेषिताः प्रेरिता दत्ता वा । दस्युभ्यः । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३ । २० । इति दसु उपक्षये—युच् । वाहुलकाद् अनादेशाभावः । दस्यति नाशयति परपदार्थानिति दस्युः । चोरादिभ्यः शकाशात् । जाताः । प्रादुर्भूताः । नश्यत । णश अदर्शने, दिवादिः । तिरोभवत । निर्गच्छत । सदान्वाः । म० १ । हे सर्वदा शब्दयित्र्यः, यद्वा, दानवैः सह वर्त्तमानाः ॥

परि॒ धामा॑न्यासामा॒शुर्गाष्ठा॑मिवासरन् ।
अजै॑षं॒ सर्वा॑नाजीन् वो॒ नश्य॑तेतः सु॒दान्वाः ॥ ६ ॥

परि॑ । धामा॑नि । आ॒सा॒म् । आ॒शुः । गाष्ठा॑म्-इव । अ॒स॒र॒न् ।
अजै॑षम् । सर्वा॑न् । आ॒जीन् । वः॒ । नश्य॑त । इ॒तः । सु॒दान्वाः ॥६॥

भाषार्थ—[वे विद्वान्] (आसाम्) इन [पीड़ाओं] के (धामानि) घरों को (परि) सब प्रकार (असरन्) पहुच गये हैं। (आशुः इव) जैसे शीघ्र गमी घोड़ा (गाष्ठाम्) अपने गमन स्थान [थान] पर। (वः) तुम्हारे (सर्वान्) सब (आजीन्) संग्रामों को (अजैषम्) मैं ने जीत लिया है, (सदान्वाः) हे सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों के साथ रहने वाली [पीड़ाओ !] (इतः) यहां से (नश्यत) चंपत हो जाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्वज विद्वान् लोग क्लेशों के कारण शीघ्र जान चुके हैं, जैसे कि घोड़ा मार्ग से लौटते समय अपने थान की ओर शीघ्र चलता है, अथवा, जैसे शूरवीर पुरुष संग्राम में शत्रुओं को हराकर शीघ्र विजयी होता है, वैसे ही मनुष्य आयी हुयी विपत्तियों का कारण सावधानी से जानकर शीघ्र प्रतीकार करे और सुख से आयु को भोगे ॥ ६ ॥

६—**परि** । परितः सर्वतः । **धामानि** । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति धाञ्-मनिन् । धीयन्ते द्रव्यजातानि यत्र । गृहाणि । जन्मानि । कारणानि । **आसाम्** । पूर्वोक्तानां पीड़ानाम् । **आशुः** । कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् । उ० १ । १ । इति अशू व्याप्तौ, यद्वा, अश भोजने-उण् । अश्वनाम निघ० १ । १४ । अश्वः कस्मादश्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति वा-निरु० २ । २७ । शीघ्रगामी घोटकः । **गाष्ठाम्** । गाङ् गतौ-क्विप्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-विच् । गमनाय गमनाद्वा तिष्ठति यत्र । गमनस्थानम् । **असरन्** । सृ गतौ भ्वादिः, लङ् । अगच्छन् ते विद्वांसः । **अजैषम्** । जि जये-लुङ् । अहं जितवानस्मि । **आजीन्** । अज्यतिभ्यां च । उ० ४ । १३१ । इति अज गतिक्षेपणयोः-इण् । वीभावाभावः । आजौ, संग्रामनामसु-निघ० २ । १७ । अजन्ति गच्छन्ति

(असरन्) के स्थान पर सायणभाष्य में [असरम्] और (गाष्ठाम्) के स्थान पर [ग्लाष्ठाम्] पद व्याख्यात है ॥

सूक्तम् १५ ॥

१—६ ॥ प्राणो देवता । गायत्री छन्दः ॥

मनुष्यो धर्मपालने निर्भयो भवेत्—मनुष्य धर्म के पालन में निर्भय रहे ॥

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा विभेः ॥ १ ॥

यथा । द्यौः । च । पृथिवी । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः । एव । मे । प्राण । मा । विभेः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (द्यौः) आकाश (च) और (पृथिवी) पृथिवी दोनों (न) न (रिष्यतः) दुःख देते हैं, और (न) न (बिभीतः) डरते हैं । (एव) ऐसे ही, (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा विभेः) मत डर ॥ १ ॥

भावार्थ—यह आकाश और पृथिवी आदि लोक परमेश्वर के नियम पालन से अपने २ स्थान और मार्ग में स्थिर रह कर जगत् का उपकार करते हैं, ऐसे ही मनुष्य ईश्वर की आज्ञा मानने से पापों को छोड़ कर और सुकर्मों को करके सदा निर्भय और सुखी रहता है ॥ १ ॥

यत्र विजयश्रियं योद्धारः, क्षिपन्ति शस्त्राणि यत्र । संग्रामान् । वः । युष्माकम् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१ यथा । येन प्रकारेण । द्यौः । अ० २ । १२ । ६ । द्योतन्ते लोका यत्र । आकाशम् । च । निश्चये । समुच्चये । पृथिवी । अ० १ । २ । १ । प्रथ विस्तारे-पिवन्, ङीप् । भूमिः । सत्तास्थानम् । न । निषेधे । बिभीतः । ञिभी भये । दरं त्रासं प्राप्नुतः । रिष्यतः । रिष हिंसायाम् , दिवादिः सकर्मकः । हिनस्तः । आज्ञाभङ्गं कुरुतः—इत्यर्थः । एव । एवम् । तथा । मे । मम । प्राण । प्र+अन् जीवने-अच् , घञ् वा । हे आत्मन् । मा विभेः । ञिभी भये, लङ् । त्वं शङ्कां मा कार्षीः ॥

यथाहंश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

यथा । अहः । च । रात्री । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (अहः) दिन (च) और (रात्री) रात दोनों (न) न (रिष्यतः) दुख देते हैं और (न) न (विभीतः) डरते हैं, (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा विभेः) मत डर ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने काल प्रयोग में नहीं चूकते वे अपने सुप्रबन्ध से सदा निर्भय रहते हैं ॥ २ ॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

यथा । सूर्यः । च । चन्द्रः । च । न । बिभीतः । न रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण मा । बिभेः ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सूर्यः) सूर्य (च) और (चन्द्रः) चन्द्र, दोनों (न) न (रिष्यतः) दुख देते हैं और (न) न (विभीतः) डरते हैं, (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा विभेः) मत डर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर के नियम से सूर्य अपनी राशियों में घूमकर संसार में किरणों और प्रकाश द्वारा वृष्टि आदि से, और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश लेकर अन्न आदि ओषधों को पुष्ट करके; उपकार करते और निर्भय विचरते हैं, ऐसे ही मनुष्य भी वेद विहित धर्म की रक्षा करके सदा प्रसन्न रहें ॥

२—अहः । नञि जहातेः । उ० १ । १५८ । इति नञ्+ओहाक् त्यागे-कनिन् । न जहाति न त्यजति सर्वथा परिवर्त्तमानत्वात् तद् अहः । दिनम् । रात्री । अ० २ । ८ । २ । रात्रिः कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः, निरु० २ । १८ । क्षपा । निशा ॥

३-सूर्यः अ० १ । ३ । ५ । आदित्यः । सप्ताश्वः । चन्द्रः । अ० १ । ३ । ४ । चन्द्रमाः ॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

यथा । ब्रह्म । च । क्षत्रम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (ब्रह्म) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] जन (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय जन, दोनों (न) (रिष्यतः) न दुःख देते और (न) (बिभीतः) डरते हैं। (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ४ ॥

भावार्थ जैसे सत्यवक्ता ब्राह्मण और सत्य पराक्रमी क्षत्रिय न सताते और न भय करते हैं, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य सत्यवक्ता और सत्यपराक्रमी होकर ईश्वराज्ञा पालन में निश्चय होकर आनन्द उठावे ॥ ४ ॥

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ५ ॥

यथा । सत्यम् । च । अनृतम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ (च) और (अनृतम्) अयथार्थ (न) न (रिष्यतः) दुःख देते, और (न) न (बिभीतः) डरते हैं। (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ५ ॥

भावार्थ—सत्य अर्थात् धर्म का विधान, और असत्य अर्थात् अधर्म का निषेध, यह दो प्रधान अंग न्याय के हैं। मनुष्य विधि और निषेध के यथावत्

४-ब्रह्म। अ० १ । ८ । ४ । ब्राह्मणजातिः । वेदवेत्तृजनः । क्षत्रम् । क्षणु वधे-क्विप्, क्षत् क्षतम् । ततस्त्रायते । क्षत्+त्रैङ् पालने-क । यद्वा । गुधृवी० उ० ४ । १६७ । इति क्षद भक्षणे: संवेषणे, संवृतौ, वधे च-त्र । क्षदति शत्रूनिति क्षत्रम् । क्षत्रियकुलम् ॥

५—सत्यम् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति सत्-यत् । सद्भ्यो

रूप को समझ कर, कुमार्ग छोड़ कर सुमार्ग में निर्भय चलें और अचल आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

यजुर्वेद में वर्णन है—अ० १६ म० ७७ ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥ १ ॥

(प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक परमेश्वर ने (रूपे) दो रूप, (सत्यानृते) सत्य और झूंठ (दृष्ट्वा) देखकर (व्याकरोत्) समझाये। (प्रजापतिः) उस प्रजापति ने (अनृते) झूंठ में (अश्रद्धाम्) अश्रद्धा वा अप्रीति और (सत्ये) सत्य में (श्रद्धाम्) श्रद्धा वा प्रीति को (अदधात्) धारण कराया।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

यथा । भूतम् । च । भव्यम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ६ ॥

भषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् [होने हारा] काल (न) न (रिष्यतः) दुःख देते और (न) न (बिभीतः) डरते हैं (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ६ ॥

भावार्थ—समर्थ, सत्य प्रतिज्ञा वाले मनुष्य पहले विजयी हुये हैं और आगे होंगे। इसी प्रकार सब मनुष्य भूत और भविष्यत् का विचार करके जो कार्य करते हैं वे सुखी रहते हैं ॥ ६ ॥

हितम् । तथ्यम् । यथार्थकथनम् । अनृतम् । न ऋतं नञ्समासः । मिथ्याभाषणम् ॥

६—भूतम् । भू-क्त । अतीतम् । गतकालः । भव्यम् । भव्यगेयप्रवचनीयो० । पा० ३ । ४ । ६८ । इति भू-यत् । भविष्यत् । अनागतम् ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—५ ॥ आत्मा देवता । १ आसुरी पङ्क्तिः, २ आसुर्युष्णिक्, ३ आसुरी त्रिष्टुप्, ४—५ आसुरी गायत्री ॥

आत्मरक्षाया उपदेशः—आत्म रक्षा के लिये उपदेश ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

प्राणापानौ । मृत्योः । मा । पातम् । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (मृत्योः) मृत्यु से (मा) मुझे (पातम्) बचाओ, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी [आशीर्वाद] हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, प्राणायाम, पथ्य भोजन आदि से प्राण अर्थात् भीतर जाने वाली श्वास, और अपान, अर्थात् बाहिर आने वाली श्वास की स्वस्थता स्थापित करें और बलवान् रह कर चिरंजीव होवें ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी इति । उप-श्रुत्या । मा । पातम् । स्वाहा ॥ २ ॥

भावार्थ—(द्यावापृथिवी=०—व्यौ) हे आकाश और पृथिवी ! दोनों (उपश्रुत्या) पूर्ण श्रवण शक्ति के साथ (मा) मेरी (पातम्) रक्षा करो, (स्वाहा) यह सुवाणी [सुन्दर आशीर्वाद] हो ॥ २ ॥

१—**प्राणापानौ** । अन जीवने-अच् वा घञ् । प्राणश्च अपानश्च तौ । हे उच्छ्वासनिश्वासौ । हे अन्तर्मुखश्वासबहिर्मुखश्वासौ । **मृत्योः** । अ० १ । ३० । ३ । मृङ्-त्युक् । प्राणत्यागात् । मरणात् । **मा** । माम् । **पातम्** । युवां रक्षतम् । **स्वाहा** । सु+आङ्+ह्वेञ् आह्वाने-डा । वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । स्वाहेत्येतत् सु आहेति स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा-निरु० ८ । २० । सुवाणी । आशीर्वादः । सुदानम् ॥

२—**द्यावापृथिवी** । अ० २ । १ । ४ । हे आकाशभूमी ! तदन्तराल-

भावार्थ—सब दिशाओं में मनुष्य को अपनी श्रवणशक्ति बढ़ानी चाहिये ॥ २ ॥

सूर्य चक्षु॑षा मा पाहि स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

सूर्य॑ । चक्षु॑षा । मा । पाहि । स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य, तू (चक्षुषा) दृष्टि के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुवाणी हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य प्रकाश का आधार है, और उसी से नेत्र में ज्योति आती है। मनुष्य को सूर्य के समान अपनी दर्शन शक्ति संसार में स्थिर रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

अग्ने॑ वैश्वानर॒ विश्वै॑र्मा दे॒वैः पाहि स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

अग्ने॑ । वै॒श्वा॒न॒र॒ । विश्वैः॑ । मा । दे॒वैः । पा॒हि॒ । स्वाहा॑ ॥४॥

भाषार्थ—(वैश्वानर) हे सब को चलाने वाले (अग्ने) अग्नि! (विश्वैः) सब (देवैः) इन्द्रियों [वा विद्वानों] के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षाकर, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—शरीर में अग्नि अर्थात् उष्णता का होना बल, तेज और प्रताप का लक्षण है और इन्द्रिय आदि का चलाने वाला है। सब मनुष्य अन्न की पाचन शक्ति से शरीर में अग्नि स्थिर रखकर सब इन्द्रियों को पुष्ट करें और उत्तम पुरुषों के सत्संग से स्वस्थ और सुखी रहें ॥ ४ ॥

दालवर्तिन्यो दिशो विदिशाः । उपश्रुत्या । उप+श्रु-क्तिन्, उपश्रूयते । समीपश्रवणेन । पूर्णश्रवणशक्तिप्रदानेन । अन्यद् गतम् ॥

३—सूर्य । अ० १ । ३ । ५ । हे सर्वप्रेरक ! हे आदित्य ! चक्षुषा । अ० १ । ३३ । ४ । चक्षिङ् कथने दर्शने च-उसि । नेत्रेण । रूपदर्शनशक्त्या ।

४-अग्ने । अ० १ । ६ । २ । अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति सन्नममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः-निरु० ७ । १४ । हे शरीरस्थतेजोविशेष!। वैश्वानर । अ० १ । १० । ४ । वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा-निरु० ७ । २१ । हे सर्वेषामिन्द्रियादीनां नायक!। विश्वैः । सर्वैः । देवैः । दिवु-अच् । इन्द्रियैः विद्वद्भिः॥

विश्वंम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

विश्वंम्-भर । विश्वेन । मा । भरसा । पाहि । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(विश्वम्भर) हे सर्वपोषक परमेश्वर ! (विश्वेन) सब (भरसा) पोषण शक्ति से (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुन्दर अशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब शरीर को स्वस्थ रखकर मनुष्य उस (विश्वम्भर) परमेश्वर के अनन्त पथ्य, पोषक द्रव्यों और शक्तियों का उपयोग करें और अपनी शारीरिक और आत्मिक शक्ति बढ़ा कर सदा बलवान् रहकर (विश्वम्भर) सर्व पोषक बनें और आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १७

१—७ ॥ ईश्वरो देवता ॥ १—६ आसुरी त्रिष्टुप्, ७ आसुर्युष्णिक् ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

ओजः । असि । ओजः । मे । दाः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर] तू (ओजः) शारीरिक सामर्थ्य (असि) है, (मे) मुझे (ओजः) शारीरिक सामर्थ्य (दाः=दद्याः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर अशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—(ओजः) बल और प्रकाश का नाम है। वैद्यक में रसादि सात धातुओं से उत्पन्न, आठवें धातु शरीर के बल और पुष्टि के कारण, और

५-**विश्वम्भर**। संज्ञायां भृतॄवृजि०। पा० ३। २। ४६। इति विश्व+डुभृञ धारणपोषणयोः-खच्। अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्। पा० ६। ३ ६७। इति मुम्। हे सर्वधारक ! जगत्पोषक ! विष्णो ! परमात्मन् ! **विश्वेन**। समस्तेन। **भरसा**। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति डुभृञ्-असुन्। पोषणशक्त्या। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१—**ओजः**। अ० १। १२। १। ओज बले, तेजसि-असुन्। बलम्।

ज्ञानेन्द्रियों की नीरोगता को (ओजः) कहते हैं। जैसे (ओजः) हमारे शरीरों के लिये है वैसे ही परमात्मा सब ब्रह्माण्ड के लिये है ऐसा विचार कर मनुष्यों को शारीरिक शक्ति बढ़ानी चाहिये ॥ १ ॥

इस सूक्त का पाठ यजुर्वेद के पाठ से प्रायः मिलता है—अ० १६ । ६ ।

तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि । वी॒र्य॒मसि वीर्यं॑ मयि धेहि । बल॑मसि॒ बलं॒ मयि॑ धेहि । ओजो॒ऽस्योजो॒ मयि॑ धेहि । म॒न्युर॑सि म॒न्युं मयि॑ धेहि । सहो॑ऽसि॒ सहो॒ मयि॑ धेहि ॥१॥

तू तेज है, मुझ में तेज धारण कर-इत्यादि ॥

सहो॑ऽसि॒ सहो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ २ ॥

सहः॑ । अ॒सि॒ । सहः॑ । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मा !] तू (सहः) पराक्रम स्वरूप (असि) है, (मे) मुझे (सहः) आत्मिक पराक्रम (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थ।—अनन्त ब्रह्माण्डों का रचक और धारक परमेश्वर पराक्रम स्वरूप है। ऐसा सोचकर विद्यादि उपायों से मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति बढ़ावें ॥ २ ॥

बल॑मसि॒ बलं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

बल॑म् । अ॒सि॒ । बल॑म् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ— [हे ईश्वर ।] तू (बलम्) सामाजिक बल (असि) है, (मे) मुझे (बलम्) सामाजिक बल (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर में सब देवता, मनुष्य आदि समाजों का बल है, ऐसा जान कर मनुष्य अपने कुटुम्बी आदि से प्रीति बढ़ा कर सामाजिक बल बढ़ावे ॥ ३ ॥

प्रकाशः । वैद्यके रसादिसप्तधातुसारजधातुविशेषः शरीरस्य बलपुष्टिकारणम् । ज्ञानेन्द्रियाणां पाटवम् । **मे** । मह्यम् । **दाः** । त्वं दद्याः, देयाः ।

२-**सहः** । षह अभिभवे, क्षमायाम्-असुन् । मानसिकबलं । पराक्रमः ।

३—**बलम्** । बल जीवने, दाने, वधे-पचाद्यच् । बलते विपक्षान् हन्तीति । सामान्यशक्तिः । सैन्यम् । सामाजिकं सामर्थ्यम् ॥

आयु॑रस्यायु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥४॥
आयुः॑ । अ॒सि॒ । आयुः॑ । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

भषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (आयुः) आयु [जीवन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (आयुः) आयु (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥४॥

भषार्थ—ईश्वर ने हमें अन्न बुद्धि, ज्ञान आदि जीवन सामग्री देकर बड़ा उपकार किया है, ऐसे ही हम भी परस्पर उपकार से अपना जीवन बढ़ावें ॥ ४ ॥

श्रोत्र॑मसि श्रोत्रं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥५॥
श्रोत्र॑म् । अ॒सि॒ । श्रोत्र॑म् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (श्रोत्रम्) श्रवण शक्ति (असि) है (मे) मुझे (श्रवणम्) श्रवण शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी अनन्त श्रवण शक्ति से हमारी टेर सुनता और संकटों को काटता है। ऐसे ही हम अपनी श्रवण शक्ति को नीरोग रख कर दूसरों के दुःखों का निवारण करें और वेदादि शास्त्रों का श्रवण करें ॥५॥

चक्षु॑रसि चक्षु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥ ६ ॥
चक्षुः॑ । अ॒सि॒ । चक्षुः॑ । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥६॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (चक्षुः) दृष्टि [दर्शन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (चक्षुः) दर्शन शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥६॥

भावार्थ—ऋग्वेद पुरुष सूक्त १० । ६० । १ । में भी परमेश्वर का नाम (सहस्राक्षः) अनन्त दर्शन शक्ति वाला है, इस प्रकार परमात्मा को सर्वद्रष्टा समझ कर मनुष्य अपनी दर्शन शक्ति चंगी रक्खे, और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के बहुदर्शी, दूरदर्शी और न्यायकारी होवे ॥६॥

४—आयुः । अ० १ । ३० । ३ । इण् गतौ-उसि, स च णित् । जीवनम् । जीवनकारणम् ।

५—श्रोत्रम् । हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । इति श्रु गतिश्रुत्योः-त्रन् । श्रवणेन्द्रियम् । कर्णम् ॥

६—चक्षुः । अ० १ । ३३ । ४ । चक्षिङ् दर्शने-उसि । दृष्ट्या । दर्शन-शक्त्या ॥

परि॒पाण॑मसि परि॒पाणं॑ मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

प॒रि॒-पान॑म् । अ॒सि॒ । प॒रि॒-पान॑म् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (परिपाणम्) सब प्रकार पालन शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (परिपाणम्) सब प्रकार की पालन शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर को अथर्व० १६ । ६ । १ । में (सहस्रबाहुः) अनन्त भुजाओं की शक्ति वाला कहा है। मनुष्य उस की अनन्त रक्षण शक्ति देख कर आप भी मनुष्यों में (सहस्रबाहुः) महा रक्षक और (शतक्रतुः) शतकर्मा अर्थात् बहुकार्य कर्त्ता होवे ॥ ७ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥



अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १८ ॥

१–५ ॥ ईश्वरो देवता । साम्नी बृहती छन्दः—१८ अक्षराणि ॥

शत्रुभ्यो रक्षा कर्तव्येत्युपदिश्यते—शत्रुओं से रक्षा करनी चाहिये—इसका उपदेश ॥

भ्रा॒तृ॒व्य॒क्षय॑णमसि भ्रातृव्य॒चात॑नं मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भ्रा॒तृ॒व्य॒-क्षय॑णम् । अ॒सि॒ । भ्रा॒तृ॒व्य॒-चात॑नम् । मे । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(भ्रातृव्यक्षयणम्) वैरियों की नाशन शक्ति (असि) तू है,

७—परिपाणम् । परि+पा रक्षणे-ल्युट । कृत्यचः । पा० ८ । ४ । २६ । इति नस्य णत्वम् । परितः सर्वतः पालनं रक्षणसामर्थ्यम् ॥

१—भ्रातृव्यक्षयणम् । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । २ । ६६ । इति भ्राजृ दीप्तौ, वा भृञ्-धारणपोषणयोः—तृन् । ततः । व्यन् सपत्ने । पा । ४ । १ । १४५ । इति व्यन् ।

(मे) मुझे (भ्रातृव्यचातनम्) वैरियों के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—(भ्रातृव्य, वह छली पुरुष है जो देखने में भ्राता के समान प्रीति, और भीतर से दुष्ट आचरण करे। परमेश्वर वा राजा ऐसे दुराचारियों का नाश करता है, ऐसे ही मनुष्य मृगतृष्णारूप, इन्द्रिय लोलुपता और अन्य आत्मकि दोषों का नाश कर के सुख से रहे ॥ १ ॥

सपत्नक्षयंणमसि सपत्नचातंनं मे दाः स्वाहा ॥२॥

सपत्न-क्षयंणम्। असि। सपत्न-चातंनम्। मे। दाः। स्वाहा ॥२॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर!] तू (सपत्नक्षयणम्) प्रकट शत्रुओं की नाशशक्ति (असि) है, (मे) मुझे (सपत्नचातनम्) प्रकट शत्रुओं के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर वा राजा प्रकट कुचालियों का नाश करता है, वैसे ही मनुष्य अपने प्रकट दोषों का नाश करके सुख भोगे ॥ २ ॥

अरायक्षयंणमस्यरायचातंनं मे दाः स्वाहा ॥३॥

अराय-क्षयंणम्। असि। अराय-चातंनम्। मे। दाः। स्वाहा ॥३॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर!] तू (अरायक्षयणम्) निर्धनता की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (अरायचातनम्) निर्धनता मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—ईश्वर सर्व शक्तिमान् और महा धनी है, ऐसा विचार कर मनुष्य अपनी दुष्टता और दुर्मति से अथवा अन्य विघ्नों से उत्पन्न निर्धनता को उद्योग कर के मिटावें ॥ ३ ॥

क्षि क्षये—ल्युट। भ्रातृव्यो गुप्तशत्रुः, तस्य क्षयणं नाशनम्। **भ्रातृव्यचातनम्।** चातयतिर्नाशने—निरु० ६। ३०। गुप्तशत्रुनाशनम्। **स्वाहा।** अ० २। १६। १। आशीर्वादोऽस्तु ॥

२—**सपत्नक्षयणम्।** सह+पत गतौ, ऐश्ये-न, सहस्य सः। एकार्थे पतन्ति यतन्ते ते सपत्नाः। तेषां प्रकटशत्रूणां क्षयणं नाशनम्। अन्यद् गतम् ॥

३—**अरायक्षयणम्।** रा+दाने-घञ्, युक् आगमः। नञ्तत्पुरुषः। अरायस्य निर्धनत्वस्य नाशनम् ॥

पिशाचक्षयंणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

पिशाच-क्षयंणम् । असि । पिशाच-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥४॥

भाषार्थ—हे ईश्वर ! तू (पिशाचक्षयणम्) मांस खाने वालों की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (पिशाचचातनम्) मांस खाने वालों के मिटाने का बल (दाः) दे । (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की न्याय शक्ति का विचार करके मनुष्य कुविचार, कुशीलता और रोगादि दोषों को जो शरीर और आत्मा के हानिकारक हैं मिटावें तथा हिंसक सिंह सर्पादि जीवों का भी नाश करें ॥ ४ ॥

सदान्वाक्षयंणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥५॥

सदान्वा-क्षयंणम् । असि । सदान्वा-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥५॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (सदान्वाक्षयणम्) सदा चिल्लाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली (निर्धनता वा दुर्भिक्षता) की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (सदान्वाचातनम्) सदा चिल्लाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली [निर्धनता वा दुर्भिक्षता] के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—निर्धनता और दुर्भिक्षता [अकाल] आदि विपत्तियों के मारे सब प्राणी महा दुःखी होकर आर्तध्वनि करते, और चोर आदि उन्हें सताते हैं। परमेश्वर की दयालुता और पूर्णता पर ध्यान कर के, मनुष्य प्रयत्न पूर्वक प्रभूत धन और अन्न का संचय करके आनन्द से रहें ॥ ५ ॥

४—पिशाचक्षयणम् । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति पिशित+अश भक्षणे-अण् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०९ । इति शित-भागस्य लोपः, अशभागस्य शाचादेशः । पिशितं मांसम् अश्नन्तीति पिशाचाः कुविचाराः, अथवा, शारीरिकरोगा हिंसकाः प्राणिनो वा, तेषां नाशनम् ॥

५—सदान्वाक्षयणम् । अ० २ । १४ । १ । सदानोनुवानां सर्वदा शब्दकारिकाणां वा दानवैः राक्षसैः सह वर्त्तमानानां दरिद्रतादिविपत्तीनां नाशनम् ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता । १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, २२ अक्षराणि, ५ साम्नी जगती ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒ ३॑ स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । तपः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । त॒प॒ । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप [ऐश्वर्य] है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—दुराचारी, कामी, क्रोधी आदि पुरुष की मति भ्रष्ट हो जाती है, और कुप्रयोग से शारीरिक और बाह्य अग्नि दुःखदायी होती, और वही अग्नि सुप्रयोग से विचारशील सदाचारियों को सुखप्रद होती है। ऐसा ही आगे समझना चाहिये ॥ १ ॥

ऐसा कहा भी है—

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ॥

गुण गुण जानने वालों में गुण होते हैं, वही निर्गुणी को पाकर दोष हो जाते हैं ॥

१—अग्ने । अग्निनामतेजो विशेष । ते । त्वदीयम् । तपः । तप दयैश्वर्ययोः–असुन् । प्रतापः । ऐश्वर्यम् । तेन । तपसा । तम् । दोषम् । प्रति । लक्ष्यीकृत्य । तप । प्रतापी भव । यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । इति व्याख्यातम्–अ० २ । ११ । ३ ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ २ ॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । हरः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । ह॒र॒ । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥२॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाश शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर दे (यः) जो (अस्मान्) हम से...........मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ३ ॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । अ॒र्चिः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । अ॒र्च॒ । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥३॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से.........मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ शो॒चिस्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ४ ॥

२—हरः । हृञ् प्रापणस्वीकारस्तेयनाशनेषु—असुन् । हरो हरतेर्ज्योतिर्हर उच्यते—निरु० ४ । १९ । हरति तमः । नाशनशक्तिः । हर । नाशय ॥

३—अर्चिः । अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः । उ० २ । १०८ । इति अर्च पूजाप्रकाशयोः—इसि । ज्वलतो नाम—निघ० १ । १७ । दीपनम् । ज्वाला । अर्च । ज्वलितो भव । दीप्यस्व ॥

अग्ने । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥४॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन-शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से·········मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

अग्ने । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २० ॥

१-५ ॥ वायुर्देवता । १-४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

४—**शोचिः** । अर्चिशुचि० । उ० २ । १०८ । इति ईशुचिर् शौचविशरणयोः-इसि । ज्वलतो नाम-निघ० १ । १७ । शुच्यत्यनेनेति । शोधनसामर्थ्यम् । **शोच** । शोचय, शोधय ॥

५—**तेजः** । अ० १ । ३५ । ३ । तिज निशाने, तेज निशानपालनयोः—असुन् । कान्तिः । **अतेजसम्** । तिज, तेज—असुन् । नञ्समासः । कान्ति-रहितम् । निस्तेजस्कम् । **कृणु** । कुरु ॥

वायो इति । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व !] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो. (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—कुप्रयोग से वायु तत्त्व दुःख देता और सुप्रयोग से आनन्द बढ़ाता है । सू० १८ म० १ देखें ॥ १ ॥

वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

वायो इति । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर दे (यः) जो (अस्मान्) हम से·········मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

वायो इति । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो (यः) जो (अस्मान्) हम से·········मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

१—वायो । कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति वा गतिगन्धनयोः—उण् आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः—निरु० १० । १ । हे पवन ! अन्यद् गतम्, सू० १८ ॥

२, ३, ४, ५—उपरि व्याख्याताः ॥

वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

वायो । इति । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरा (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हम से·········मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

वायो इति । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-५ । सूर्यो देवता । १-४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

सूर्य । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् ।
द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [आदित्य मण्डल] !(यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से [वयम्] हम [द्विष्मः] अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्य सृष्टि के पदार्थों को वीर्यवान् और तेजस्वी करता है। किन्तु वही कुप्रयोग से दुःखदायी, और सुप्रयोग से सुखदायी होता है ॥ १ ॥

सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

सूर्य । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् ।
द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश करडाल, (यः) जो (अस्मान्) हम से...... मंन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

सूर्य । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्य, हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः)

१-सूर्य । अ० १ । ३ । ५ । हे सरणशील ! हे प्रेरणशील ! आदित्य ! अन्यदुपरिगतम् ॥

२, ३ ४, ५—उपरि व्याख्याताः ॥

दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १॥ ३॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३॥

सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४॥

सूर्य । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे, (यः) जो (अस्मान्) हमसे...मन्त्र ॥ १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४॥

सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५॥

सूर्य । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥५॥

सूक्तम् २२

चन्द्रो देवता ॥ १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः॥

कुप्रयोगत्यागोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

चन्द्र । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥१॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र मण्डल!] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस (दोष) पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—शीतल स्वभाव चन्द्रमा स्वभावतः अपनी किरणों से अनिष्टों को हटा कर अन्न आदि ओषधियों को पुष्ट कर के प्राणियों को आनन्द देता है। परन्तु उसी चन्द्रमा के कुप्रयोग से मनुष्य पागल [Lunatic] और घोड़े आदि पशु रोगी हो जाते हैं। इस कुप्रयोग का त्याग कर के सुप्रयोग से आनन्द प्राप्त करना चाहिये ॥ १ ॥

चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२॥

चन्द्र । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥२॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक!] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] का (प्रति हर) नाश कर डाल, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

चन्द्र । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

१—चन्द्र । अ० १ । ३ । ४ । हे आह्लादक चन्द्रलोक ! ।

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

चन्द्र । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे (यः) जो (अस्मान्) हम से···मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

चन्द्र । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥५॥

भषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा (यम) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—५ ॥ आपो देवताः । १—४ साम्नी जगती, ५ स्वराट् साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागोपदेशः—कुप्रयोग त्याग के लिये उपदेश ॥

आपो यद्व वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

आपः । यत् । वः । तपः । तेन । तम् । प्रति । तपत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जल [जल पदार्थ !] (यत्) जो (वः) तुम्हारा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तपत) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि, नदी, कूप आदि का जल अनावृष्टि दोषों को मिटाकर अन्न आदि पदार्थों को उत्पन्न करके प्राणियों को बल और सुख देता है, और वही कुप्रबन्ध से दुख का कारण होता है, ऐसे ही राजा सामाजिक नियमों के विरोधी दुष्टों का नाश करके प्रजा को समृद्ध करता और सुख देता है ॥ १ ॥

आपो यद् वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

आपः । यत् । वः । हरः । तेन । तम् । प्रति । हरत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो (यत्) जो (वः) तुम्हारी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हरत) नाश कर डालो, (यः) जो (अस्मान्) हम से ··· म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

आपो यद् वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

आपः । यत् । वः । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्चत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो (यत्) जो (वः) तुम्हारी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्चत) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

आपः । यत् । वः । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोचत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोचत) शुद्ध करदो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

आपः । यत् । वः । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणुत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणुत) करदो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१-८ ॥ ईश्वरो देवता । पूर्वार्धाः-१, २ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप् २३; ३, ४ निचृत् साम्नी त्रिष्टुप् २१; ५ साम्नी बृहती १८; ६-७ भुरिक् साम्नी बृहती छन्दः, १९; उत्तरार्धाः सर्वत्र साम्नी बृहती १८ अक्षराणि ॥

म० १-४। कुसंस्काराणां ५-८ कुवासनानां च नाशायोपदेशः-म० १-४ कुसंस्कारों के और ५-८ कुवासनाओं के नाश का उपदेश ॥

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥१॥

शेरभक । शेरभ । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ १ ॥

भषार्थ—(शेरभक) अरे वधकपन में मन लगाने वाले ! (शेरभ) अरे रंग में भंग डालने वाले ! [दुष्ट !] और (किमीदिनः) अरे लुतरे लोगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें, और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें । तुम (यस्य) जिस के [साथी] (स्थ) हो, (तम्) उस [पुरुष] को (अत्त) खाओ, (यः) जिस [पुरुष] ने (वः) तुम को (प्राहैत्=प्राहैषीत्) भेजा है, (तम) उस को (अत्त) खाओ, (स्वा=स्वानि) अपने ही (मांसानि) मांस की बोटियां (अत्त) खाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे नीति निपुण राजा अपने बुद्धिबल से ऐसा प्रबन्ध करता है कि शत्रु जो कुछ छलबल करे वह उसी को ही उलटा दुःखदायी हो, और उसके मनुष्य उस की कुनीतियों को जान कर उस का ही नाश कर दें, और वह लोग

१—शेरभक । शसु वधे-ड । कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५।३५। इति रभङ् उत्सुकीभावे=अविचारप्रवृत्तौ—वुन् । शसति हन्ति येनेति शः । शस्त्रं हननं वधो वा । शे वधे । रभते उत्सुकीभवतीति शेरभकः, तत्सम्बुद्धौ । अलुक् समासः। हे हिंसायामुत्सुक । शेरभ । वृषिवपिभ्यां रन् । उ० २ । २७ । इति शीङ् स्वप्ने-रन् । ओभञ्जो मोटने-ड । शेवं सुखनाम-निघ० ३ । ६ । शेरं शेवं सुखं भनक्तीति शेरभः सुखभञ्जकः, तत्सम्बुद्धौ । पुनः । पन स्तुतौ-अर्, अकारस्य उत्वम् । द्वितीय-वारे । भेदे । निवृत्य । वः । युष्माकम् । यन्तु । इण् गतौ । गच्छन्तु । यातवः । अ० १ । ७ । १ । यत ताड़ने-उण् । ताड़नाः । पीड़ाः । हेतिः । अ० १ । १३ । ३ । हन वधे-क्तिन् । हननम् । वज्रः । किमीदिनः । अ० १ । ७ । १ । किम्+इदम्-इनि । पिशुनाः । यस्य । अस्मद्विरोधिनः । स्थ । सहायका भवथ । तम् । विरोधिनम् । अत्त । भक्षयत । वः । युष्मान् ।

आपस में विरोध करके परस्पर मार डालें। इसी प्रकार आत्मजिज्ञासु पुरुष अपने शरीर और आत्मा की निर्बलता और दोषों और उन से उत्पन्न दुष्ट फलों को समझ कर बुद्धिपूर्वक उन्हें एक एक करके नाश करदे, और जितेन्द्रिय हो कर आनन्द भोगे ॥ १॥

सायणभाष्य में (स्वा) पद के स्थान में (सा) पद है और उसका अर्थ [तस्य शत्रोः यद्वा सा हेतिः] ऐसा किया है, हमारी समझ में बहुवचनान्त (स्वा) पद ही ठीक है ॥

इस सूक्त के पहिले चार मन्त्रों में पुंलिङ्ग शब्दों का, और पिछले पांच मन्त्रों में स्त्रीलिङ्गों का संबोधन है ॥

शेवृ॑धक॒ शेवृ॑ध॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तव॒: पुन॑र्हे॒तिः कि॑मीदिन: ।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒: प्राहै॑त् तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त ॥२॥

शेवृ॑धक । शेवृ॑ध । पुन॑: । व॒: । य॒न्तु॒ । या॒तव॑: । पुन॑: । हे॒तिः । कि॒मी॒दि॒न॒: । यस्य॑ । स्थ । तम् । अ॒त्त॒ । यः । व॒: । प्र-अहै॑त् । तम् । अ॒त्त॒ । स्वा । मां॒सानि॑ । अ॒त्त॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शेवृधक) अरे वधक पन में बढ़ने वाले ! (शेवृध) अरे सुख के नाश करने वाले [दुष्ट] ! और (किमीदिनः) अरे लुतरे लोगों ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) (चोट)...मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

प्र-अहैत्। हि गतौ-अन्तर्भावितण्यर्थः। लुङि सिचि वृद्धौ। बहुलं छन्दसि। पा ७। ३। ९७। इति अपृक्तप्रत्ययस्य ईडभावे। स्कोः संयोगाद्योरन्ते०। पा० ८। २। २९। इति सलोपः। प्राहैषीत्। प्रेषितवान्। स्वा। स्वानि। मांसानि। अ० १। ११। ४। मन ज्ञाने धृतौ च—सप्रत्ययः। पिशितानि ॥

२-शेवृधक। शसु वधे-ड। बहुलमन्यत्रापि। उ० २। ३७। इति वृधु वृद्धौ वृध दीप्तौ-कुन्। शे शस्त्रे हनने वधे वा वर्धते दीप्यते वा स शेवृधकः। तत्सम्बुद्धौ। शेवृध। सावसेर्न्न्। उ० २। ९६। इति शेवृ सेवने-न्न्। धक नाशने-डप्रत्ययः। शेवं सुखनाम-निघं ३। ६। शेवृ शेवं सुखं धक्कयतीति शेवृधः। हे सुखनाशक। अन्यत् पूर्ववत् ॥

म्रोकानु॑म्रोक पुन॑र्वो यन्तु यातवः॒ पुन॑र्हे॒तिः कि॑मीदिनः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो वः॒ प्राहै॑त् तम॑त्त॒ स्वा मांसान्य॑त्त ॥३॥

म्रोक॑ । अनु॑-म्रोक । पुन॑ः । वः॒ । य॒न्तु॒ । या॒तव॑ः । पुन॑ः । हे॒तिः ।
कि॒मी॒दि॒नः॒ । यस्य॑ । स्थ । तम् । अ॒त्त॒ । यः । वः॒ । प्र-अहै॑त् ।
तम् । अ॒त्त॒ । स्वा । मां॒सानि॑ । अ॒त्त॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(म्रोक) अरे चोर ! (अनुम्रोक) अरे चोरों के साथी ! (किमीदिनः) अरे तुम लुतरे लोगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें...मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

सर्पानु॑सर्प॒ पुन॑र्वो यन्तु यातवः॒ पुन॑र्हे॒तिः कि॑मीदिनः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो वः॒ प्राहै॑त् तम॑त्त॒ स्वा मांसान्य॑त्त ॥४॥

सर्प॑ । अनु-सर्प । पुन॑ः । वः॒ । य॒न्तु॒ । या॒तव॑ः । पुन॑ः । हे॒तिः ।
कि॒मी॒दि॒नः॒ । यस्य॑ । स्थ । तम् । अ॒त्त॒ । यः । वः॒ । प्र-अहै॑त् ।
तम् । अ॒त्त॒ । स्वा । मां॒सानि॑ । अ॒त्त॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सर्प) अरे सांप [क्रूर स्वभाव !] (अनुसर्प) अरे सांपों के साथी ! (किमीदिनः) अरे तुम लुतरे लोगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें ...म० १ ॥ ४॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान ॥ ४ ॥

३-म्रोक । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति म्रुच गतौ-कर्तरि घ प्रत्ययः । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ ५२ । इतिः कुत्वम् । म्रोचति धनादिकम् अपहृत्य छन्नः सन् गच्छतीति म्रोकः-इति सायणः । हे चोर, म्लेच्छ । अनुम्रोक । म्रोकान् अनु गच्छतीति अनुम्रोकः । चोरसहायक ! ॥

४-सर्प—सृप्लृ गतौ पचाद्यच् । सर्पति इतस्ततो गच्छतीति सर्पः हे हिंस्रजन्तुविशेष ! तद्वत् क्रूरस्वभाव पुरुष ! अनु सर्प । सर्पान् अनुसृत्य सह व्याप्य गच्छतीति अनुसर्पः । हे सर्पानुसारिन् । हिंस्रसहायक ॥

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥५॥

जूर्णि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जूर्णि) अरी जूड़ी [जाड़े के ज्वर] ! (किमीदिनीः=०न्यः) अरी तुम लुतरियो ! [कुवासनाओ !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें…… म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो नीतिज्ञ पुरुष अपने मन की कुवासनाओं और उन के कारण को जान कर उनको सर्वथा मिटाता है, वह वशिष्ठ महा उपकारी जितेन्द्रिय होकर संसार का उपकार करके आनन्दित होता है ॥ ५ ॥

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥६॥

उपब्दे । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उपब्दे) अरी चिंघारने वाली ! और (किमीदिनीः=०—न्यः)

५—जूर्णि । वीज्याज्वरादिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इति ज्वर रोगे-नि । ज्वरत्वरस्रिव्यवि० । पा० ६ । ४ । २० । इति वकारोपधयोरूठ् । शीतज्वरवद् दुःखप्रदकुवासने । किमीदिनीः । ऋन्नेभ्यो ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । किमीदिन्यः । पिशुन्यः ।

६—उपब्दे । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति उपपूर्वात् पद गतौ,

अरी तुम लुतरियो [कुवासनाओ !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें…म० ५ ॥ ६ ॥

भावार्थ—कुवासनाओं और कुचिन्ताओं से मनुष्य कठोरवादी हो जाता है ॥ ६ ॥

अर्जु॑नि पुन॑र्वो यन्तु यात॒वः पुन॑र्हे॒तिः कि॑मीदिनीः ।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो वः॒ प्राहै॑त् तम॑त्त स्वा मां॒सान्य॑त्त ॥७॥

अर्जु॑नि । पुन॑ः । वः॒ । यन्तु॒ । यात॒वः॑ । पुन॑ः । हे॒तिः । कि॑मीदि॒नीः । यस्य॑ । स्थ । तम् । अत्त॒ । यः । वः॒ । प्र॒-अहै॑त् । तम् । अत्त॒ । स्वा । मां॒सानि॑ । अत्त॒ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अर्जुनि) अरे कुट्टिनी [दूती !] (किमीदिनीः=न्यः) अरी तुम लुतरियो ! [कुवासनाओ] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें…… म० ५ ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कुवासनाओं को कुटिनी वा दूती इत्यादि माना है—शेष मन्त्र ५ के समान ॥ ७ ॥

भरू॑जि पुन॑र्वो यन्तु यात॒वः पुन॑र्हे॒तिः कि॑मीदनीः
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो वः॒ प्राहै॑त् तम॑त्त स्वा मां॒सान्य॑त्त ॥८॥

भरू॑जि । पुन॑ः । वः॒ । यन्तु॒ । यात॒वः॑ । पुन॑ः । हे॒तिः । कि॑मीदि॒नीः । यस्य॑ । स्थ । तम् । अत्त॒ । यः । वः॒ । प्र॒-अहै॑त् । तम् । अत्त॒ । स्वा । मां॒सानि॑ । अत्त॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(भरूजि=भरुजि) अरी नीच शृगाली [गीदड़नी, लोमड़ी]!

वा वद वाचि-इन् । यद्वा, कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति बहुल-वचनात् । उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ९२ । इति दो अवखण्डने-कि । पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः । उपब्दिः, वाङ् नाम-निघ० १ । ११ । उपेत्य द्यति खण्डयतीति । हे क्रूरशब्दकारिणि ॥

७—अर्जुनि । ऋजेर्णि लुक् च । उ० ३ । ५८ । इति अर्ज लाभे, संस्कारे च-उनन् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । ङीष् । हे कुट्टिनि ॥

८—भरूजि । भ + रुजो भङ्गे, वा रुज हिंसायाम्-क । भ-इति शब्देन रुज-

(किमीदिनीः=०-न्यः) अरी तुम लुतरी [कुवासनाओ !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें, और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट २ कर (यन्तु) चली जावें। तुम (यस्य) जिस की [साधिनि] (स्थ) हो, (तम्) उस [पुरुष] को (अत्त) खाओ, (यः) जिस [पुरुष] ने (वः) तुम को (प्राहैत्) भेजा है, (तम्) उसे (अत्त) खाओ. (स्वा=स्वानि) अपने ही (मांसानि) मांस की बोटियां (अत्त) खाओ ॥ ८)

भावार्थ—(भरूजी वा भरुजी) गीदड़नी को कहते हैं। जैसे गीदड़नी छल कपट कर के पीड़ा देती है, ऐसे ही मनुष्य कुवासनाओं के कारण कपटी छली होकर सताने लगता है। कुवासनाओं के नाश करने का उपाय पुरुष को प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये-म० ५ देखो ॥ ८ ॥

टिप्पणी—(भरूजि) पद के स्थान में सायणभाष्य में [भरूचि] पद व्याख्यात है ॥

सूक्तम् २५ ॥

१-५ ॥ पृश्निपर्णी देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशायोपदेशः—शत्रुओं के नाश के लिये उपदेश ॥

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः ।
उ॒ग्रा हि क॑ण्वज॒म्भनी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥

शम् । नः॒ । दे॒वी । पृ॒श्नि॒-प॒र्णी । अश॑म् । निः-ऋ॑त्यै । अ॒कः॒ ।
उ॒ग्रा । हि । क॒ण्व॒-ज॒म्भनी॑ । ताम् । अ॒भ॒क्षि॒ । सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवी) दिव्य गुण वाली (पृश्निपर्णी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर

तीति भरुजः क्षुद्रशृगालः—इति शब्दकल्पद्रुमकोषे। जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्। पा० ४। १। ६३। इति ङीष्, उकारस्य छान्दसो दीर्घः। हे क्षुद्रशृगालि। तद्वत् कपटिनि ॥

१-शम्। सुखम्। नः। अस्मभ्यम्। **देवी**। दीप्यमाना। **पृश्निपर्णी**। पृश्निः—इति व्याख्यातम्, अ० २। १। १। स्पृश स्पर्शे—नि, सलोपः। पृश्निः= सूर्यः, पृथिवी। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति पॄ पालन-पूरणयोः—न। पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा तत् पर्णं पत्रं वा। स्त्रियां ङीष्। सूर्यस्य पृथिव्या वा परमेश्वरस्य पालनशक्तिः। सूर्यवत् पृथिवी वद्वा पर्णानि पत्राणि यस्याः सा पृश्निपर्णी, ओषधिरूपा परमेश्वरशक्तिः। पृश्निपर्णी चित्रपर्णी ओषधिः—इति सायणः। पृश्नि स्वल्पं पर्णमस्याः—जात-

शक्ति] ने (नः) हमारे [पुरुषार्थियों के] लिये (शम्) सुख, और (निर्ऋत्यै) दुःखदायिनी अलक्ष्मी, महामारी आदि पीड़ा के लिये (अशम्) दुःख (अकः= अकार्षीत्) किया है। (हि) क्योंकि वह शक्ति (उग्रा) प्रचंड और (कण्व-जम्भनी) पाप की नाश करने वाली है, [इसलिये] (ताम्) उस (सहस्वतीम) बलवती को (अभक्षि) मैं ने भजा वा पूजा है ॥ १॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सूर्य आदि वड़े वड़े लोकों को धारण किया है और जैसे पृथिवी पर अन्नादि ओषधियां अपने पत्ते, फलादि से उपकार करती हैं, वैसे ही परमेश्वर की सृष्टि में सूर्यादि लोक आकर्षण, धारण, वृष्टि आदि से परस्पर उपकारी होते हैं। परमेश्वर अपने आज्ञापालक पुरुषार्थियों को सुख, और आज्ञानाशक कर्महीनों को दुःख देता है। उस दयालु और प्रचंड परमात्मा की आज्ञा मान कर हम सदा आनन्द भोगें ॥

टिप्पणी—(पृश्नि) शब्द का अर्थ सूर्य है–निरु० २। २४, और पृथिवी, छोटा और चित्र भी है, और (पर्ण) का अर्थ पालन, और पत्ते हैं। सायणाचार्य ने (पृश्निपर्णी) का अर्थ चित्रपर्णी ओषधि लिखा है। शब्दकल्पद्रुमकोष में वर्णन है कि (पृश्निपर्णी) छोटे पत्ते वाली लता विशेष है, उसे बंगला में 'चाकुलिया" और नागरी में "चकरौत्" कहते हैं, इसके गुण कटुत्व; और अतीसार, कास, वातरोग, ज्वर, उन्माद, व्रण, और दाह नाशक हैं ॥

विशेषः, चाकुलिया इति वङ्गभाषा, चकरौत् इति हिन्दी भाषा, अस्या गुणाः। कटुत्वम्, अतीसारकासवातरोगज्वरोन्मादव्रणदाहनाशित्वञ्च—इति शब्दकल्पद्रुमे। **अशम्**। अशान्तिम्। दुःखम्। **निर्ऋत्यै**। अ० १। ३१। २। निः+ऋ हिंसने—क्तिन्। अलक्ष्म्यै, निर्धनतायै। **अकः**। डुकृञ् करणे लुङ्। मन्त्रे घस०। पा० २। ४। ८०। इति च्लेर्लुक्। गुणे। हल्ङ्याब्भ्यो०। पा० ६। १। ६८। इति तिलोपः। अकार्षीत्, कृतवती। **उग्रा**। अ० १। १०। १। उच समवाये–रक्। प्रचण्डा। **हि**। यस्मात् कारणात्। **कण्वजम्भनी**। अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्। उ० १। १५१। इति कण गतौ, आर्तस्वरे—क्वन्। कण्यते अपोह्यते तत् कण्वं पापम्। जभि नष्टीकरणे—ल्युट्, ङीप्। पापस्य नाशयित्री। **अभक्षि**। भज सेवायाम्, लुङि आत्मनेपदोत्तमैकवचनम्। अहं सेवितवानस्मि। **सहस्वतीम्**। सहस्-मतुप् ङीप्। तसौ मत्वर्थे। पा० १। ४। १९। इति भत्वेन अपदत्वाद् रुत्वाभावः। अभिभवनशीलाम्। बलवतीम्॥

सह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत ।
तया॒हं दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृश्चामि श॒कुने॑रिव ॥ २ ॥

सह॑माना । इ॒यम् । प्र॒थ॒मा । पृश्नि॒-प॒र्णी । अ॒जा॒य॒त । तया॑ । अ॒हम् । दुः॒-नाम्ना॑म् । शिरः॑ । वृ॒श्चा॒मि॒ । श॒कुनेः॑-इ॒व ॥२॥

भाषार्थ—(सहामाना) जीतने वाली (इयम्) यह (पृश्निपर्णी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर शक्ति] (प्रथमा) सब से पहिले (अजायत) प्रकट हुयी है । (तया) उस [शक्ति] से (अहम्) मैं (दुर्णाम्नाम्) बुरे नाम वाले दोषों के (शिरः) शिर को (वृश्चामि) तोड़ डालूँ, (इव) जैसे (शकुनेः) पक्षी के [शिर को तोड़ डालते हैं]॥२॥

भावार्थ—मनुष्य आदिकारण परमेश्वर के विश्वास पर अपना शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर अपने शत्रुओं और दोषों का नाश करके आनन्द भोगें ॥ २ ॥

टिप्पणी—(दुर्नाम) शब्द कल्पद्रुम कोष में (अर्श) अर्थात् ववासीर रोग का भी नाम है ।

२-सहमाना । षहिर् अभिभवे—शानच् । दोषान् अभिभवन्ती । **इयम्** । समीपवर्त्तिनी पृश्निपर्णी । **प्रथमा** । प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । इति प्रथ ख्यातौ —अमच्, टाप् । प्रख्याता । मुख्या । सृष्टेः प्राग्भवा । **पृश्निपर्णी** । म० १ । **अजायत** । जनी प्रादुर्भावे-लङ् । ज्ञाजनोर्जा पा० । ७ । ३ । ७९ । इति, जा इत्यादेशः । प्रादुरभवत् । **दुर्णाम्नाम्** । दुर्दुष्टं निन्दितं नाम येषाम् । दुष्टदोषानाम् । दुर्नाम, अर्शो रोगः-इति शब्दकल्पद्रुमे । **शिरः** । श्रयते स्वाङ्गे शिरः किच्च । उ० ४ । १९४ । इति श्रिञ् सेवने-असुन्, स च कित्, धातोः शिरादेशश्च । मस्तकम् । **वृश्चामि** । ओव्रश्चू छेदे । छिनद्मि । **शकुनेरिव** । शकेरुनोन्तोन्त्युनयः । उ० ३ । ४९ । इति शक्लृ शक्तौ-उनि । यथा पक्षिणः शिरः खङ्गादिकं विनापि छिद्यते ॥

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति ।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥ ३ ॥

अरायम् । असृक्-पावानम् । यः । च । स्फातिम् । जिहीर्षति ।
गर्भ-अदम् । कण्वम् । नाशय । पृश्नि-पर्णि । सहस्व । च ॥३॥

भाषार्थ—(पृश्निपर्णि) हे सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर शक्ति] (अरायम्) निर्धनता को, (च) और (यः) जो [रोग] (स्फातिम्) बढ़वार को (जिहीर्षति) छीनना चाहे, [उस] (असृक्पावानम्) रक्त पीने वाले, और (गर्भादम्) गर्भ खाने वाले [गर्भाधान शक्ति नाश करने वाले] (कण्वम्) पाप [रोग] को (सहस्व) जीत ले (च) और (नाशय) मिटादे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिन आलस्यादि दोषों और ब्रह्मचर्यादि खण्डन रूप कुकर्मो से हम धन हीन, तन क्षीण, मन मलीन होकर वंशच्छेद करें। ऐसे दोषों को हम सर्वथा त्यागें, और उस (पृश्निपर्णी) सूर्यादि जगत् के रचक, पोषक, अखण्डव्रत परमात्मा का ध्यान करके विद्यावृद्धि धनवृद्धि और कुलवृद्धि करके आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

३-**अरायम्** । रा दानादानयोः-घञ् युक् आगमः । नञ्समासः । निर्धनताम् । **असृक्पावानम्** । असु क्षेपे, यद्वा असञ् दीप्तिग्रहणगतिषु-ऋजिप्रत्ययः । अस्यते क्षिप्यते नाड़ीभिः । यद्वा असति शरीरं येन, यद्वा गृह्णाति गच्छति वा यत्तद् असृक्, रक्तम् । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ इति पा पाने वनिप् । रुधिरस्य पानशीलं नाशकम् । **स्फातिम्** । स्फायी वृद्धौ-क्तिन् । वृद्धिम् । **जिहीर्षति** । हृञ् हरणे-सनि लट् । हर्तुं नाशयितुमिच्छति उपक्रमते । **गर्भादम्** । अदोऽनन्ने । पा० ३ । २ । ६८ । इति गर्भ+अद भक्षणे-विट् । गर्भस्य भक्षकम् । **कण्वम्** । व्याख्यतम् (कण्वजम्भनी) इति शब्दे-म० १ । कण्यते अपोह्यते इति कण्वं पापम् । अर्श आदिभ्योऽच् पा० ४ । २ । १२७ इति मत्वर्थे अच् । पापयुक्तं दुःखकरं रोगम् । **नाशय** । मारय । **प्रश्निपर्णि** । म० १ । **सहस्व** । अभिभव ॥

गि॒रिमे॑ना॒ँ आ वे॑शय॒ कण्वा॑न् जीवित॒योप॑नान् ।
तांस्त्वं दे॑वि पृश्निपर्ण्य॒ग्निरि॑वानु॒दह॑न्निहि ॥ ४ ॥

गि॒रिम् । ए॒ना॒न् । आ । वे॒श॒य॒ । कण्वा॑न् । जी॒वि॒त॒-योप॑नान् ।
तान् । त्वम् । दे॒वि॒ । पृश्नि॒-प॒र्णि॒ । अ॒ग्निः-इ॑व । अ॒नु॒-दह॑न् ।
इ॒हि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे दिव्य गुण वाली (पृश्निपर्णि) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधिरूप परमेश्वरशक्ति] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणों के मोहने वाले [व्याकुल करने वाले] (कण्वान्) पाप रोगों को (गिरिम्) पहाड़ [अगम्य स्थान] में (आ वेशय) गाड़ दे। और (त्वम्) तू, (अनुदहन्) क्रम से दाह करती हुई (अग्निःइव) आग के समान (तान्) उन पर (इहि) पहुंच ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिन (कण्वान्) आत्म दोषों से मनुष्य का जीवन द्विविधा में पड़े और विघ्नों में फंसकर अपकीर्ति मिले, उन दुःखदायी दोषों को परमेश्वर का सहाय लेकर सर्वथा नाश करे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पातञ्जल, योगदर्शन, पाद १ सूत्र ३० में यह विघ्न वर्णन किये हैं।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनाल-
ब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥

४—**गिरिम्** । कॄगॄशॄपॄकुटि० । उ० ४ । १४३ । इति गॄ निगरणे, अथवा गृणातिः स्तुतिकर्मा—निरु० ३ । ५ । इप्रत्ययः, किच्च, गिरति धारयति पृथिवीं ग्रियते स्तूयते गुरुत्वाद्वा । पर्वतम् । अगम्यस्थानम् । **एनान्** । समीपस्थान्, प्रसिद्धान्, **आ+वेशय** । द्विकर्मकः । प्रवेशय । स्थापय । **कण्वान्** । म० ३ । दुःखकरान् दोषान् । **जीवितयोपनान्** । जीव प्राणे—भावे क्त । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति युप विमोहने—कर्तरि ल्युट् । जीवनस्य विमोहकान् । **अनुदहन्** । अनुक्रमेण भस्मीकुर्वन् । **इहि** । इण् गतौ—लोट् । गच्छ । प्राप्नुहि । आक्रमस्व । अन्यद् गतम् ॥

१—(व्याधि) रोग, २—(स्त्यान) भारीपन, ३—(संशय) द्विविधा, ४—(प्रमाद) भूल, ५—(आलस्य) ढीलापन, ६—(अविरति) जंजाल में फंस जाना, ७—(भ्रान्तिदर्शन) भ्रम वा अज्ञान से कुछ का कुछ देखना, ८—(अलब्धभूमिकत्व) ठिकाने का न पाना, और ९—(अनवस्थितत्वानि) अदृढ़ता, (चित्तविक्षेपाः) चित्त की हलचलें हैं, और (ते अन्तरालाः) वे विघ्न हैं॥

परा॑च एना॒न् प्र णु॑द॒ कण्वा॑न् जीवित॒योप॑नान् ।
तमां॑सि॒ यत्र॒ गच्छ॑न्ति॒ तत् क्र॒व्यादो॑ अजीगमम् ॥५॥

परा॑चः । ए॒नान् । प्र । नु॒द॒ । कण्वा॑न् । जी॒वि॒त॒-यो॒प॑नान् ।
तमां॑सि । यत्र॑ । गच्छ॑न्ति । तत् । क्र॒व्य॒-अदः॑ । अ॒जी॒ग॒म॒म्॥५॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणों के मोहने वाले (कण्वान्) पाप रोगों को (पराचः) औंधे मुख (प्र णुद) ढकेल दे। (यत्र) जहां (तमांसि) अन्धकार (गच्छन्ति) व्याप्त रहते हैं, (तत्=तत्र) वहां (क्रव्यादः) मांस खाने वाले [रोगों] को (अजीगमम्) मैं ने पहुंचा दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे राजा महापापी दुराचारी पुरुष को बन्ध करके अन्धेरे कारागार में डाल देता है, इसी प्रकार पुरुषार्थी पुरुष व्यायाम करने और पथ्य पदार्थों के सेवन से आलस्य, ज्वर आदि शारीरिक रोगों को मिटाकर अविद्यादि मानसिक रोगों का नाश करें ॥ ५ ॥

५—पराचः । परा प्रातिलोम्ये, अनादरे, न्यग्भावे, तत्पूर्वाद् अञ्चु गतिपूजनयोः–क्विन्, शसि रूपम् । पराङ्मुखान्, विमुखान् । एनान् । समीपस्थान् । अस्माकं कुसंस्कारोत्पन्नान् । प्र+नुद । णुद प्रेरणे । प्रेरय । अपसारय । तमांसि । तमिर् खेदे ; इच्छायाम्–असुन् । क्लेशहेतुकाः । अन्धकाराः । यत्र । यत् स्थानम् । गच्छन्ति । व्याप्नुवन्ति । तत् । निःसूर्यस्थानम् । क्रव्यादः । क्रुव भये–यत् । रलयोरेकत्वात् । क्रव्ये च । पा० ३ । २ । ६९ । क्रव्योपदाद् अद भक्षणे–विट् । मांसभक्षकान् कुष्टादिरोगान् । अजीगमम् । गमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । अहं प्रेरितवानस्मि ॥

सूक्तम् २६ ॥

१—५ ॥ त्वष्टा सविता वा देवता । १-२ त्रिष्टुप्, ३-५ अनुष्टुप् ॥

सङ्गतिकरणोपदेशः—मेल करने का उपदेश ॥

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष । त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

आ । इह । यन्तु । पशवः । ये । परा-ईयुः । वायुः । येषाम् । सह-चारम् । जुजोष । त्वष्टा । येषाम् । रूप-धेयानि । वेद । अस्मिन् । तान् । गो-स्थे । सविता । नि । यच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पशवः) वे पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इह) यहां (आ यन्तु) आ जावें, (ये) जो (परेयुः) भटक गये हैं । (येषाम्) जिन के (सहचारम्) साथ साथ चलना (वायुः) पवन ने (जुजोष) अंगीकार किया है । (त्वष्टा) सूक्ष्म क्रियाओं का रचने वाला [सूक्ष्मदर्शी पुरुष] (येषाम्) जिन के (रूपधेयानि) रूपों [शारिरिक रूपों और मांसिक स्वभावों] को (वेद) पहिचानता है, (सविता) वह सब का चलाने वाला [गोपाल वा सभाप्रधान पुरुष] (तान्) उन [पशुओं] को (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) [गोठ, अर्थात् गोशाला वा सभा] में (नियच्छतु) बांध कर रक्खे ॥ १ ॥

१—इह । अत्र गोष्ठे सभायां वा । आ+यन्तु । इण् गतौ । आगच्छन्तु । पशवः । अ० १ । १५ । २ । दृशिर् प्रेक्षणे—कु, पश्यादेशः । पशवः= व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २९ । मनुष्यगवादिप्राणिनः । जीवाः । परा-ईयुः । इण् गतौ—लिट् । विमुखा जग्मुः । वायुः । अ० २।२०।१। पवनः । येषाम् । पशूनाम् । सहचारम् । सह+चर गतौ—घञ् । सङ्गमनम् । जुजोष । जुषी प्रीतिसेवनयोः—लिट्, छन्दसि परस्मैपदम् । जुजुषे । सचतेस्म । त्वष्टा । अ० । २ । ५ । ६ । त्वक्ष तनूकरणे—तृन् । व्यवहारतनूकर्ता ।

भावार्थ—इस सूक्त में (पशु) शब्द का अर्थ गौ आदि और सब प्राणी मात्र है। "पशु व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले हैं—" निरु० ११। २६। अर्थात् मनुष्य आदि और गौ आदि। जैसे विचारशील गोपाल, गोरक्षक वायु लगने से इधर उधर भटकते हुये गौ आदि पशुओं को प्रेम के साथ बाड़े में लाकर बांधता है, वैसे ही सूक्ष्मदर्शी प्रधान पुरुष अपने आश्रितों और सम्बन्धियों को, जो वायु लगने अर्थात् कुसंस्कार पाने से भटक गये हों, उपकार और प्रीति की दृष्टि से ऐकत्र करके सभा में नियमबद्ध करे ॥ १ ॥

पशु शब्द प्राणी मात्र के अर्थ में प्रायः वेद में आया है, जैसे—

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ॥

अ० २। २८। ३ ॥

तू पृथवी के पशुओं [प्राणियों] का राजा है जो उत्पन्न हुये हैं अथवा जो उत्पन्न होंगे।

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ॥

अ० २। ३४। १।

जो पशुपति चौपाये और जो दोपाये पशुओं का स्वामी है ॥

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ २॥

सूक्ष्मदर्शी पुरुषः। रूपधेयानि। भागरूपनामभ्यो धेयः। वार्त्तिकम्। पा० ५। ४। २५। नानारूपाणि। विविधस्वभावान्। वेद। विद ज्ञाने-लट्। वेत्ति। जानाति। अस्मिन्। निकटस्थे। गोष्ठे। अ० २। १४। २। गोशालायाम् सभायाम्। सविता। अ० १। १८। २। पशुप्रेरकः। सभाप्रधानः। नि+यच्छतु। इषुगमियमां छः। पा० ७। ३। ७७। इति निपूर्वाद् यमेः शपि छत्वम्। नियमयतु नियमे स्थापयतु ॥

इमम् । गो-स्थम् । पशवः । सम् । स्रवन्तु । बृहस्पतिः ।
आ । नयतु । प्र-जानन् । सिनीवाली । नयतु । आ ।
अग्रम् । एषाम् । आ-जग्मुषः । अनु-मते । नि । यच्छ ॥२॥

भषार्थ—(पशवः) सब पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इमम्) इस (गोष्ठम्) स्थिर वचन वाले पुरुष [गोपाल वा प्रधान] से (सम् स्रवन्तु) आ आकर मिलें, और वह (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का स्वामी [गोपाल वा सभापति] (प्रजानन्) पहचान २ कर [उन को] (आ नयतु) ले आवे। (सिनीवाली) अन्न देने वाली देवी [गृहपत्नी वा नीतिविद्या, आप] (एषाम्) इन का (अग्रम्) आगमन (आ नयतु) स्वीकार करे। (अनुमते) हे अनुकूल बुद्धि वाली [गृहपत्नी वा नीतिविद्या] (आजग्मुषः) इन आये हुओं को (नियच्छ) नियम में बांध कर रख ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सायंकाल में गौ आदि मिल कर अपने गोपाले के पास आते हैं, और (बृहस्पति) बड़े उपकारी गौ आदि का रक्षक उन को ढूंढ़ २ कर लाता है, और उस की गृहपत्नी आगे आकर उन को अन्न तृण आदि देकर प्रसन्न करती और अपने २ स्थान पर बांध देती है, इसी प्रकार उत्तम सभा-

---

२—इमम् । शुभगुणैर्निर्दिष्टं गोपालं प्रधानपुरुषं वा । गोष्ठम् । गौर्वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । गवि वाचि तिष्ठतीति गोष्ठः । स्थिरवाचं दृढ़-वचनं गोपालं प्रधानपुरुषं वा । पशवः । म० १ । सम्+स्रवन्तु । स्रु गतौ । समेत्य गच्छन्तु । बृहस्पतिः । अ० २ । १३ । २ । बृहतां महतां प्राणिनां पाता रक्षिता । गोपः सभापतिर्वा । आनयतु । आगमयतु । प्रजानन् । प्र+ज्ञा-शतृ । विद्वान् । सिनीवाली । इण्सिञ्जिदीङु-ष्यविभ्यो नक् । उ० ३ । २ । इति षिञ् बन्धने-नक्, स्त्रियां ङीप् । वल संवरणे, यद्वा, वल जीवने, दाने-अण्, ङीप् । सिनीवली, सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती । निरु० ११ । ३१ । सिनीं सिन-मन्नं वलति धारयतीति । अन्नधर्त्री । अन्नवती गृहपत्नी नीतिविद्या वा । आ+नयतु । छन्दसि परेऽपि । पा० १ । ४ । ८१ । इति उपसर्गस्य परत्वम् ।

पति अपने संगठित सभासदों को यथायोग्य आसन दे और नीति अर्थात् सुशीलता और विनय के साथ उन का आदर सत्कार कर के नियम में रक्खे ॥ २ ॥

(अनुमते) पद के स्थान में सायणभाष्य में (अनुगते] व्याख्यात है ॥

सं सं स्रवन्तु पुशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हुविषा जुहोमि ॥३॥

सम् । सम् । स्रवन्तु । पुशवः । सम् । अश्वाः । सम् । ऊँ इति । पूरुषाः । सम् । धान्यस्य । या । स्फातिः । सम् । स्राव्येण । हुविषा । जुहोमि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पशवः) गौ आदि (सम्) मिल कर, (अश्वाः) घोड़े (सम्) मिल कर, (उ) और (पूरुषाः) सब पुरुष (सम् सम्) मिल मिल कर (स्रवन्तु) चलें। और (या) जो (धान्यस्य) धान्य [अन्न] की (स्फातिः) बढ़ती है, [वह भी] (सम्=सम् स्रवतु) मिल कर चले। (संस्राव्येण) कोमलता से युक्त (हविषा) भक्ति वा अन्न के साथ [उन सब को] (जुहोमि) मैं ग्रहण करूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब उपकारी गौ, अश्व आदि पशु और मनुष्य नियम के साथ

आगमयतु । **अग्रम्** । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति अगि गतौ-रन् । अग्रतः । पुरस्तात् । **आजग्मुषः** । आङ्+गमेः क्वसुः । वसोः संप्रसारणम् । पा० । ६ । ४ । १३ । इति शसि संप्रसारणम् । आगतान् । पशून् । **अनुमते** । अनु+मन बोधे-क्तिन् । अनुमतिरनुमननात्-निरु० ११ । २९ । अनुकूलबुद्धियुक्ते । **नियच्छ** । नियमय ॥

३—**सम्** । सम्यक् । यथाविधि । समेत्य । **स्रवन्तु** । गच्छन्तु **पशवः** । गवादयः । **अश्वाः** । अ० १ । १६ । ४ । घोटाः । **पूरुषाः** । अ० १ । १६ । ४ । मनुष्याः । **धान्यस्य** । दधातेर्यन्नुट् च । उ० ५ । ४८ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः-यत् नुट् च । अन्नस्य । **स्फातिः** । अ० २ । २५ । ३ ।

मिल कर रहैं, और प्रयत्न पूर्वक पुष्कल जीविका प्राप्त करें, और प्रधान पुरुष उन के शिक्षादान और भरण पोषण की यथोचित सुधि रक्खे ॥ ३॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

सम् । सिञ्चामि । गवाम् । क्षीरम् । । सम् । आज्येन । बलम् । रसम् । सम्-सिक्ताः । अस्माकम् । वीराः । ध्रुवाः । गावः । मयि । गो-पतौ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(गवाम्) गौओं का (क्षीरम्) दूध [अपने मनुष्यों पर] (सम्) यथानियम (सिञ्चामि) मैं सींचता हूं, और [उन मनुष्यों के] (बलम्) बल और (रसम्) शरीर पोषक धातु को (आज्येन) घृत से (सम्) यथानियम [सींचता हूं]। (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर पुरुष [दूध, घी आदि से] (संसिक्ताः) अच्छे प्रकार सिंचे रहें, [इस लिये] (मयि) मुझ (गोपतौ) गोपति में (गावः) गौयें (ध्रुवाः) स्थायी [रहें] ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न से गौओं की रक्षा कर के उन के दूध घी आदि के सेवन से अपने और अपने पुरुषों के शारीरिक धातुओं को पुष्ट कर के और बल और बुद्धि बढ़ा कर शूर वीर बनावें। इसी प्रकार जो प्रधान पुरुष अपने उपकारी सभासदों को भरण पोषण आदि उचित व्यवहार से पुष्ट करते रहते हैं, वही नीति निपुण संसार की वृद्धि करते हैं ॥ ४ ॥

समृद्धिः । संस्राव्येण हविषा जुहोमि । अ० १ । १५ । १ । आर्द्रीभावयुक्तेन भक्त्या अन्नेन वा स्वीकरोमि ॥

४—सम् । यथाविधि । सिञ्चामि । षिच सेचने । आर्द्रीकरोमि । वर्धयामि । गवाम् । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । धेनूनाम् । क्षीरम् । अ० १ । १५ । ४ । घस्लृ=अद भक्षणे—ईरन् । दुग्धम् । आज्येन । अ० १ । ७ । २ । घृतेन । बलम् । अ० १ । १ । १ । सामर्थ्यम् । रसम् । अ० १ । ५ । २ । सारम् । वीर्य्यम् । देहस्थं भुक्तान्नादेः परिणामम् । संसिक्ताः । षिच-क्त ।

टिप्पणी—इस मन्त्र के अर्थ से [दूधों नहाओ पूतों फलो] इस आशीर्वाद का मिलान कीजिये ॥

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

आ । हरामि । गवाम् । क्षीरम् । आ । अहार्षम् । धान्यम् । रसम् । आ-हृताः । अस्माकम् । वीराः । आ । पत्नीः । इदम् । अस्तकम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(गवाम्) गौओं के (क्षीरम्) दूध को (आ हरामि) मैं प्राप्त करूं, [क्योंकि दूध से] (धान्यम्) पोषण वस्तु अन्न और (रसम्) शारीरिक धातु को (आ अहार्षम्) मैंने पाया है। (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर पुरुष (आहृताः) लाये गये हैं, और (पत्नीः=पत्न्यः) पत्नियां भी (इदम्) इस (अस्तकम्=अस्तम्) घर में (आ=आहृताः) लायी गयी हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को सदा गौओं की रक्षा करनी चाहिये, जिस से सब स्त्री पुरुष दूध घी का सेवन करके हृष्ट पुष्ट होकर शूर वीर रहें और घरों में सब प्रकार की सम्पत्ति बढ़ती जावे ॥ ५ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

घृतदुग्धादिना संसिक्तशरीराः, दृढगात्राः सन्तु । **वीराः** । अ० १ । १६ । ६ । शूरपुरुषाः । **ध्रुवाः** । ध्रुवः कः । उ० २ । ६१ । इति ध्रु स्थैर्ये-क । दृढाः । स्थिराः । **गावः** । धेनवः । **मयि** । उपासके । धार्मिके पुरुषे । **गोपतौ** । गोस्वामिनि ॥

५—**आहरामि** । आनयामि । **गवां क्षीरम्** । म० ४ । धेनूनां दुग्धम् । **आहार्षम्** । हञ् हरणे-लुङ् । आनीतवानस्मि । **धान्यम्** । म० ३ । अन्नम् **रसम्** । म० ४ । शारीरिकधातुम् । **आहृताः** । आनीताः । **वीराः** । अ० १ । २६ । ६ । पराक्रमिणः पुरुषाः । **पत्नीः** । अ० २ । १२ । १ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पत्न्यः । **अस्तकम्** । हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति अस भुवि, गतिदीप्त्यादानेषु-तन्, स्वार्थे कः । अस्तम्=गृहम्-निघ० ३ । ४ ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ।

सूक्तम् २७ ॥

१-७ ॥ १-६ ओषधिर्देवता, ७ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

बुद्ध्या विवादः कर्तव्य इत्युपदिश्यते—बुद्धि से विवाद करे, इसका उपदेश ॥

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ १ ॥

न । इत् । शत्रुः । प्राशम् । जयाति । सहमाना । अभि-भूः । असि । प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शत्रुः) वैरी (प्राशम्) प्रश्न कर्ता [मुझ] को (न इत्) कभी न (जयाति) जीते, [हे बुद्धि] तू (सहमाना) जयशील और (अभिभूः) प्रबल (असि) है। (प्राशम्) [मुझ] प्रश्न कर्ता के (प्रतिप्राशः) प्रतिकूल वादियों को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप की पीने वाली [ज्वरादिताप हरने वाली औषध के समान बुद्धि उन सब को] (अरसान्) नीरस [फीका] (कृणु) कर ॥

भावार्थ—इस सूक्त में ओषधि के उदाहरण से बुद्धि का ग्रहण है। ओषधि का अर्थ निरु० ६। २७ में किया है "ओषधयँ ओषत्, दाह वा ताप को पीलेती हैं अथवा ताप में इन को पीते हैं, अथवा ये दोष को पीलेती हैं"

१—न । निषेधे । इत् । अवधारणे । एव । शत्रुः । अ० २। ५। ३। विपक्षः । प्रतिवादी । प्राशम् । क्विप् वचिप्रच्छिश्रि० । उ० २। ५७। इति प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—क्विप, दीर्घः संप्रसारणाभावश्च । च्छ्वोः शूडनुनासिके च । पा० ६। ४। १९। इति च्छस्य शः । प्रष्टारं वादिनं माम् । जयाति । जयतेर्लेटि आडागमः । जयतु । अभिभवतु । सहमाना । अ० २। २५। २। जेत्री । अभिभूः । भुवः संज्ञान्तरयोः । पा० ३। २। १७९। इति अभि+भू—क्विप् । अभिभवित्री । प्रतिप्राशः । प्रति+प्रच्छ—कर्तरि क्विप् । न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । पा० २। ३। ६९।

२-मन्त्र का आशय । जिस प्रकार शुद्ध परीक्षित ओषधि के सेवन करने से ज्वर आदि रोग नाश होते हैं, ऐसेही मनुष्य के बुद्धि पूर्वक, प्रमाण युक्त विवाद करने से बाहिरी और भीतरी प्रतिपक्षी हार जाते हैं ॥ १ ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ २ ॥

सु-पर्णः । त्वा । अनु । अविन्दत् । सूकरः । त्वा । अखनत् । नसा । प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सुपर्णः) सुन्दर पक्ष वाले [गरुड़, गिद्ध आदि पक्षी के समान दूरदर्शी पुरुष] ने (त्वा) तुझ को (अनु=अन्विष्य) ढूंढ कर (अविन्दत्) पाया है, (सूकरः) सूकर [सूअर पशु के समान तीव्रबुद्धि और बलवान् पुरुष] ने (त्वा) तुझ को (नसा) नासिका से (अखनत्) खोदा है। (प्राशम्) मुझ प्रश्न कर्त्ता के (प्रतिप्राशः) प्रति वादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि] उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ २ ॥

इति तृन् ग्रहणात् । तद्वाचके क्विपि प्रत्ययेऽपि (प्राशम्) इत्यस्य कर्मत्वम् । प्रतिकूलप्रष्टॄन् । प्रतिवादकान् । जहि । हन हिंसागत्योः-लोट् । नाशय । पराजितान् कुरु । अरसान् । नीरसान् । निर्वीर्यान् । कृणु । कुरु । ओषधे । अ० १ । २३ । १ उष दाहे-घञ । ततो धेट् पाने-कि । ओषधय ओषद् धयन्तीति वौषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा-निरु० ६ । २७ । ओषं दाहं धयति पिबति नाशयतीति ओषधिः । यवादिधान्यम् । रोगनाशक-द्रव्यम् । तापनाशिका बुद्धिः । तत्संबुद्धौ ॥

२—सुपर्णः । धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति सु+पॄ पालनपूरणयोः-न, यद्वा । पत गतौ-न प्रत्ययः, तकारस्य रेफः । सुपतनः शोभनगमनः । शीघ्रगामी । गरुड़ः । पक्षिमात्रम् । अनु । अन्विष्य । अविन्दत् । विद्लृ लाभे लङ् । शे मुचादीनाम् । पा० ७ । १ । ५६ । इति नुम् । अलभत । सूकरः ।

भावार्थ—(सुपर्णाः) गिद्ध, मोर आदि पक्षी बड़े तीव्रदृष्टि होते हैं और सूकर एक बलवान् पशु अपनी नासिका से अपने खाद्य तृण को पृथिवी में से खोद कर खा जाता है। इसी प्रकार दूरदर्शी, परिश्रमी और बलवान् पुरुष बुद्धि की महिमा को साक्षात् करके यथा योग्य उसका प्रयोग करते हैं और सदा जय पाते हैं ॥ २ ॥

इन्द्रो॑ ह च॒क्रे त्वा॑ बा॒हावसु॑रेभ्य॒ स्तरी॑तवे ।
प्राशं॒ प्रति॑प्राशो॒ जह्य॑र॒सान् कृ॑ण्वोपधे ॥ ३ ॥

इन्द्रः॑ । ह॒ । च॒क्रे॒ । त्वा॒ । बा॒हौ । असु॑रेभ्यः । स्तरी॑तवे ।
प्राश॑म् । प्रति॑-प्राशः॑ । ज॒हि॒ । अ॒र॒सान् । कृ॒णु॒ । ओ॒प॒धे॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष ने (ह) ही (त्वा) तुझ को (बाहौ) अपनी भुजा पर (असुरेभ्यः) असुरों से (स्तरीतवे) रक्षा के लिये (चक्रे) किया है। (प्राशम्) [मेरे] प्रश्न के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटा दे, (ओपधे) हे ताप को पीने वाली [ओपधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ ३ ॥

ऋदोरप्। पा० ३। ३। ५७ इति सु+कृ विक्षेपे, वा कृञ् हिंसायाम्। वा कॄङ् विज्ञाने-अप्। अथवा, टप्रत्ययः। उकारस्य दीर्घः। अथवा, सू इति शब्दं करोति, सू+कृ-टः। सुकिरति भूमिं सुकृणाति मनुष्यान् यद्वा सुकारयते विजानाति खाद्यपदार्थान्। वराहः। **अखनत्** । खनु विदारे-लङ्। विदारितवान्। उद्धृतवान्। **नसा** । णसङ् कौटिल्ये-क्विप्। नासिकाया ॥

३-**इन्द्रः**—अ० १। २। ३। परमैश्वर्यवान् महाप्रतापी पुरुषः। **ह** । हन हिंसागत्योः-ड। प्रसिद्धम्। **चक्रे** । कृञ्-लिट्। कृतवान्। **त्वा** । त्वाम्। ओषधिम्। **बाहौ** । कृवापाजिमि०। उ० १। १। इति वह प्रापणे, यद्वा, वाह यत्ने-उण्। यद्वा, अर्जिदृशिकमि०। उ० १। २७। इति बाधृ विहतौ-कु, धस्य हः। वकारबकारयोरैकत्वम्। भुजे। **असुरेभ्यः** । सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन्। उ० २। २४। इति षु ऐश्वर्यप्रसवयोः-क्रन्। यद्वा, सुर दीप्त्यैश्वर्ययोः-कप्रत्ययः। देवविरोधिभ्यः। अपण्डितेभ्यः। राक्षसेभ्यः सकाशात्। (असुरेभ्यस्तरीतवे)

भावार्थ—(इन्द्र) महाप्रतापी महाबली पुरुष ही अपने बुद्धि बल से (असुर) देवताओं के विरोधी अधर्मियों का नाश करते आये हैं, करते हैं और और करेंगे ॥ ३ ॥

सायणभाष्य में (स्तीरतवे) के स्थान मे [तरीतवे] है।

पाटामिन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्य स्तरीतवे ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ४ ॥

पाटाम् । इन्द्रः । वि । आश्नात् । असुरेभ्यः । स्तरीतवे ।
प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥४॥

भावार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ने (पाटाम्) चमकती हुयी [ओषधि रूप बुद्धि] को (असुरेभ्यः) असुरों से (स्तरीतवे) रक्षा के लिये (वि) विविध प्रकार से (आश्नात्) भोजन किया है। (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप को पीलेनी वाली [ओषधि के समान बुद्धि। उन सब को] (अरसान्) फींका (कृणु) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम ओषधि के सेवन से रोग का नाश होकर शरीर और चित्त को आनन्द मिलता है, वैसे ही ऐश्वर्यशाली पुरुष बुद्धि के यथावत् प्रयोग से शत्रुओं का नाश करके शान्ति लाभ करते हैं ॥ ४ ॥

वा शरि। पा० ८। ३। ३६। खर्परे शरि वा लोपो वक्तव्यः। वार्तिकम्। इति विसर्गलोपः। **स्तरीतवे** । तुमर्थे सेसेनसेऽसे०। पा० ३। ४। ९। इति स्तृ प्रीतिरक्षाप्राणनेषु [श० क० द्रुमकोषे] तवे प्रत्ययः । रक्षितुम् ॥

४—**पाटाम्** । पट गतिदीप्तिवेष्टनेषु-घञ्, टाप्। गतिम् । दीप्तिम्। विद्याम्। ओषधिम्। प्रसङ्गात् सायणभाष्योक्तम् [पाठा] इति पदं व्याख्यायते तद् यथा शब्दकल्पद्रुमकोषे । पठ्यते बहुगुणवत्तया कथ्यते इति। पठ-कर्मणि घञ्, अजादित्वात् टाप्, लताविशेषः, आकनादि इति भाषा, तत्पर्यायः प्राचीना, दीपनी..., अस्या गुणाः, तिक्तत्वम्, गुरुत्वम्, उष्णत्वम्, वातपित्तज्वर-

तीनों संहिताओं के (पाटाम्) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (पाठाम्) है, और भाष्यकार ने उसे ओषधि विशेष माना है। शब्द कल्पद्रुम कोष में लिखा है कि [पाठा] लता विशेष है, आकनादि भाषा नाम है। उसके गुण तिक्तता, गुरुता, उष्णता, और वातपित्त, ज्वरपित्त, दाह, अतीसार, शूल नाशन आदि हैं।

तयाहं शत्रू॑न्त्साक्ष॒ इन्द्रः॑ सालावृ॒काँ इ॑व।
प्राशं॒ प्रतिप्राशो॑ जह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ५ ॥

तया। अ॒हम्। शत्रू॑न्। सा॒क्षे॒। इन्द्रः॑। सा॒ला॒वृ॒कान्-इ॑व।
प्राश॑म्। प्रति-प्राशः॑।। ज॒हि॒। अ॒र॒सान्। कृ॒णु॒। ओ॒ष॒धे॒ ॥५॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (तया) उस [ओषधि रूप बुद्धि] से (शत्रून्) वैरियों को (साक्षे) हरा दूं, (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली [गृह पति] (साला-वृकान् इव) जैसे घर के भेड़ियों, कुत्ते, बिलाव आदिकों को। (प्राशम्) मुख्य वादी के (प्रतिप्राशः) प्रति वादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे ओषधि बल से रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्य बुद्धि बल से, अपने दोषों और शत्रुओं का नाश करके आनन्द लाभ करें ॥ ५ ॥

रुद्र॒ जला॑षभेषज॒ नील॑शिखण्ड॒ कर्म॑कृत्।
प्राशं॒ प्रतिप्राशो॑ जह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ६ ॥

पित्तदाहातीसारशूलनाशित्वम्, भग्नसन्धानकारित्वं च। वि। विविधम्। आश्नात्। अश भोजने—लङ्। अभक्षयत्। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—तया। पाटया। तत्प्रभावेन। शत्रून्। वैरिणः। साक्षे। षह अभिभवे-लेटि उत्तमे। अभिभवामि। असत्प्रायान् करोमि। सालावृकान्। सालायां गृहे वृक इव। शालावृकान्। कुक्कुरान् विडालान्। अन्यद् गतम् ॥

रुद्र॑ । जलाष-भेषज । नील॑-शिखण्ड । कर्म॑-कृत् ।
प्राशम् । प्रति॑-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥६॥

भाषार्थ—(रुद्र) हे ज्ञान प्रापक ! हे दुःख विनाशक ! (जलाषभषेज) हे सुख दायक ओषधि वाले ! (नीलशिखण्ड) हे निधियों वा निवास स्थानों के प्राप्त कराने वाले ! (कर्मकृत्) हे कार्य्य में कुशल पुरुष ! (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप को पीने वाली [ओषधि रूप बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे उपकारी चतुर सद्वैद्य सुपरीक्षित ओषधियों से संसार में उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को अपने बुद्धि प्रभाव से कार्यकुशल होकर सदा उपकारी रहना चाहिये ॥ ६ ॥

तस्य॒ प्राशं॒ त्वं ज॑हि॒ यो न॑ इन्द्राभि॒दास॑ति ।
अधि॑ नो ब्रूहि॒ शक्ति॑भिः प्रा॒शि मामुत्त॑रं कृधि ॥ ७ ॥

६—रुद्र । अ० १ । १६ । ३ । रुत्+र । रु गतौ, वधे-क्विप्, तुक् आगमः। रवते गच्छति जानाति येनेति रुत्, ज्ञानम् । रा दाने-क। यद्वा। मत्वर्थे रप्रत्ययः ज्ञानदाता ज्ञानवान् वा रुद्रः । यद्वा । रवते हिनस्तीति रुत्, दुःखम् । रुत् रवते नाशयतीति रुत्+रु वधे-ड। दुःखनाशको रुद्रः । सत्संबुद्धौ । जलाषभेषज । जनी-ड+लष इच्छायाम्-घञ् । जैः जातैः लष्यते, इति जलाषम् । ततौ भिषज् चिकित्सायां सुखने-अच् । जलाषं भेषजं च सुख नाम—निघ० ३ । ६ । जलाषं सुखकरं भेषजं यस्य । हे सुखप्रदौषधयुक्त । नीलशिखण्ड । स्फायितञ्चि-वञ्चि० । उ० २ । १३ । इति णीञ् प्रापणे, रक् । रस्य लः । नीयते प्राप्यते इति नीलः, निधिभेदः । संख्याविशेषो वा । यद्वा । नि+इल गतौ-क । नीलः-नीडः निवासः । अण्डन् कृसृभृवृञः । उ० १ । १२६ । इति शिखि गतौ-अण्डन्, स च कित् । नीलानां निधीनां निवासानां वा शिखण्डः प्राप्तिर्यस्मात् नीलशिखण्डः । हे निधीनां निवासानां वा प्रापक ! कर्मकृत् । कर्म+कृञ्-क्विप्, तुक् च । कर्माणि कृत्यानि करोतीति सः । हे कृत्यकुशल ! । अन्यद् गतम् ॥

तस्य॑ । प्राश॑म् । त्वम् । ज॒हि॒ । यः । नः॒ । इन्द्र॑ । अ॒भि॒-दास॑ति । अधि॑ । नः॒ । ब्रू॒हि॒ । शक्ति॑-भिः । प्रा॒शि । माम् । उत्-त॑रम् । कृ॒धि॒ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले [पुरुष !] (त्वम्) तू (तस्य) उस पुरुष के (प्राशम्) प्रश्न को (जहि) मिटा दे, (यः) जो (नः) हम को (अभि-दासति) दबावे। (नः) हम से (शक्तिभिः) अपनी शक्तियों के साथ (अधि),अधिकार पूर्वक (ब्रूहि) कथन कर, और (प्राशि) विवाद में (माम्) मुझ को (उत्तरम्) अधिक उत्तम (कृधि) कर दे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे न्यायी राजा सत्यवादी को जिताता और मिथ्यावादी को हराता है। वैसे ही प्रत्येक मनुष्य अपने कुविचारों को दबाकर और सुविचारों को प्रबल करके आनन्द भोगे। ऐसे ही मनुष्य (इन्द्र) परम सामर्थ वाले होते हैं ॥ ७ ॥

(प्राशि) पद के स्थान पर सायणभाष्य में [प्राशम्] है ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता । त्रिस्टुप् छन्दः ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

तुभ्य॑मे॒व ज॑रिमन् वर्धताम॒यं मेमम॒न्ये मृ॒त्यवो॑ हिंसिषुः श॒तं ये । मा॒तेव॑ पु॒त्रं प्रम॑ना उ॒पस्थे॑ मि॒त्र ए॑नं मि॒त्रिया॑त् पा॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

७—तस्य । प्रतिवादिनः। प्राशम् । मं० १ । सम्पदादिभ्यः क्विप्। वा० पा० ३ । ३ । ९४ । इति प्रच्छ जिज्ञासायाम्–भावे क्विप्। प्रश्नम्। अभि-दासति । दसु उपक्षये, ण्यन्तात् परस्य शपः । छन्दस्युभयथा। पा० ३ । ४ । ११७ । इति आर्धधातुकत्वात्। णेरनिटि। पा० ६ । ४ । ५१ । इति णिलोपः। उपक्षपयति । तिरस्करोति । अधि । अधिकृत्य। नः । अस्मान्। ब्रूहि । कथय। निर्णय। शक्तिभिः । स्वसामर्थ्यैः। प्राशि । पूर्ववद् भावे क्विप्। प्रश्ने। माम् । प्रष्टारम्। सत्यवादिनं। उत्तरम् । उत् अतिशयेन उद्गतः। उत्–तरप्। ऊर्ध्वम्।उत्कृष्टम्। कृधि । श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि । पा० ६। ४ । १०२। इति हेर्धिरादेशः। कुरु ॥

तुभ्य॑म् । एव । जुरिमन् । वर्धताम् । अयम् । मा । इमम् । अन्ये । मृत्यवः । हिंसिषुः । शतम् । ये । माता-इव । पुत्रम् । प्र-मनाः । उप-स्थे । मित्रः । एनम् । मित्रियात् । पातु । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(जरिमन्) हे स्तुति योग्य परमेश्वर ! (तुभ्यम्) तेरे [शासन मानने के] लिये (एव) ही (अयम्) यह पुरुष (वर्धताम्) बढ़े, (ये) जो (अन्ये) दूसरे (शतम्) सौ (मृत्यवः) मृत्यु हैं, [वे] (इमम्) इस पुरुष को (मा हिंसिषुः) न मारें । (प्रमनाः) प्रसन्नमन (माता इव) माता जैसे (पुत्रम्) कुलशोधक पुत्र को (उपस्थे) गोद में [पालती है वैसे ही] (मित्रः) मृत्यु से बचाने वाला, वा, बड़ा स्नेही परमेश्वर (एनम्) इस पुरुष को (मित्रियात्) मित्र संबन्धी (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने जीवन को सदैव ईश्वर की आज्ञा पालन अर्थात् शुभ कर्म करने में बितावे, और प्रयत्न करे कि उस का मृत्यु निन्दनीय कार्मों में कभी न हो और न उसके मित्रों में फूट पड़े और न वे दुष्कर्मी हों। और न कोई दुष्ट पुरुष अपने मित्रों को सता सके। जैसे प्रसन्नचित्त विदुषी माता की गोद में बालक निर्भय क्रीड़ा करता है, वैसे ही वह नीतिज्ञ पुरुष परमेश्वर की शरण पाकर अपने भाई बन्धुओं के बीच सुरक्षित रह कर आनन्द भोगे ॥ १ ॥

१—तुभ्यम् । त्वदर्थम् । त्वदाज्ञापालनाय । एव । अवश्यम् । जरिमन् । जरास्तुनिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु०-१० । ८ । जनिमृङ्भ्यामिमनिन् । उ० ४ । १४६ । इति जरतेः स्तुतिकर्मणः-कर्मणि इमनिन् । हे स्तुत्य । स्तूयमान परमेश्वर ! वर्धताम् । वृद्धिं समृद्धिं प्राप्नोतु । अयम् । निर्दिष्टः शरीरस्थो जीवः । एनम् । निर्दिष्टं जीवम् । अन्ये । स्तुत्यकर्मभ्यो भिन्नाः । मृत्यवः । अ० १ । ३० । ३ । मरणानि । मा हिंसिषुः । मा वधिषुः । मा हिंसन्तु । शतम् । असंख्याताः । माता । अ० १ । २ । १ । मान पूजायाम्-तृन् । माननीया जननी । इव । यथा । पुत्रम् । अ० १ । ११ । ५ । कुलशोधकं सुतम् । प्रमनाः । प्र+मन बोधे-असुन् । प्रसन्नचित्ता । उपस्थे । उप+ष्ठा—क । भुजान्तरे । क्रोड़े । मित्रः । अ० १ । ३ । २ । मित्रः प्रमीतेस्त्रायते सम्मिन्वानो द्रवतीति वा मेदयतेर्वा-निरु० १० । २१ । मरणाद्रक्षकः । सर्वप्रेरकः परमेश्वरः । एनम् । जीवम् । मित्रियात् । समुद्राभ्राद् घः । पा० ४ । ४ । ११८ । इति बाहुलकात् । मित्र-घ । मित्रसम्बन्धिनः । अंहसः । अ० २ । ४ । ३ । पापात् । दोषात् । दुःखात् ॥

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ । तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ २ ॥

मित्रः । एनम् । वरुणः । वा । रिशादाः । जरा-मृत्युम् [जरा-अमृत्युम्] । कृणुताम् । सम्-विदानौ । तत् । अग्निः । होता । वयुनानि । विद्वान् । विश्वा । देवानाम् । जनिम । विवक्ति ॥२॥

भाषार्थ—(मित्रः) सर्व प्रेरक, काम में लगाने वाला दिन का समय (वा) और (रिशादाः) श्रम का भक्षण करने वाला (वरुणः) रात्रि का समय (संविदानौ) दोनों मिले हुए (एनम्) इस पुरुष को (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति के साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु वाला (कृणुताम्) करें । (तत्) इस लिये (होता) महादानी और (वयुनानि) सब व्यवस्थाओं को (विद्वान्) जानने वाला (एनम्) (अग्निः) अग्नि [तेजस्वी परमेश्वर] (देवानाम्) दिव्य पदार्थों वा महात्माओं के (विश्वा=विश्वानि) सब (जनिमा=०—मानि) जन्म विधानों को (विवक्ति) बतलावे ॥ २ ॥

२—मित्रः । म० १ । मध्यमस्थानदेवता-निरु० १० २१ । अहरभिमानी देवः-इति सायणः । दिनकालः । वरुणः । मध्यस्थानदेवता-निरु० १० । ३ । द्युस्थानदेवता-निरु० १२ । २१ । रात्र्यभिमानी [देवः]-इति सायणः । रात्रि-समयः । एनम् । जीवम् । वा । चार्थे । रिशादाः । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति रिश हिंसायाम्-क । अद भक्षणे-असुन् । रिशानां हिंसकानां श्रमाणां अत्ता नाशयिता । जरामृत्युम् । अ० २ । १३ । २ । जरया स्तुत्या अमृत्युः अमरणं यस्य तम् । यद्वा । जरया स्तुत्या वृद्धत्वेन वा मृत्युर्मरणं यस्य तम् । यशस्विनम् । कृणुताम् । उभौ कुरुताम् । संविदानौ । समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः । पा० १ । ३ । २९ । इति संपूर्वाद् वेत्ते-रकर्मकात्-आत्मने पदम् । लटः शानच् । संगच्छमानौ । ऐकमत्यं प्राप्तौ । तत् । तेन कारणेन । अग्निः । अ० १ । ६ । २ । व्यापकः सर्वज्ञः परमेश्वरः ।

भावार्थ—जो मनुष्य दिन और रात ईश्वर की आज्ञा पालन में लगे रहते हैं वे ही अन्त में यशस्वी होते हैं, और सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी परमेश्वर उनके हृदय में सब उत्तम २ व्यवस्थाओं और नियमों को प्रकट करता जाता है ॥ २ ॥

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः । मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥ ३ ॥

त्वम् । ईशिषे । पशूनाम् । पार्थिवानाम् । ये । जाताः । उत । वा । ये । जनित्राः । मा । इमम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । मा । इमम् । मित्राः । वधिषुः । मो इति । अमित्राः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (पार्थिवानाम्) पृथिवी पर के (पशूनाम्) पशुओं [जीवों] का (ईशिषे) स्वामी है, (ये) जो (जाताः) उत्पन्न हो चुके हैं (उत) और (वा) अथवा (ये) जो (जनित्राः) उत्पन्न होंगे । (इमम्)

होता । अ० १ । ११ । १ । हु-तृन् । दाता । आदाता । वयुनानि । अजियमिशीङ्भ्यश्च । उ० ३ । ६१ । इति अज गतौ-उनन्, वीभावः । अथवा । वी गतिकान्तिव्याप्त्यादिषु-उनन् । वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा-निरु० ५ । १४ । ज्ञातव्यानि कर्माणि । विश्वा । विश्वानि । सर्वाणि । जनिमा । जनिमृङ्भ्यामिमनिन् । उ० ४ । १४६ । इति जन जनी वा-इमनिन् । जनिमानि, जन्मानि । प्रादुर्भावस्थानानि । विवक्ति । वचेः-लेटि शपः श्लुः । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । ४ । ७८ । इत्यभ्यासस्य इकारः । ब्रवीतु । उपदिशतु ॥

३—त्वम् । हे अग्ने, परमेश्वर ! ईशिषे । ईश ऐश्वर्ये । ईशः से । पा० ७ । २ । ७७ । इडागमः । ईश्वरोऽधिपतिरसि । पशूनाम् । अ० २ । २६ । १ । द्विपाच्चतुष्पादपाणां प्राणिनाम् । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ इति षष्ठी । पार्थिवानाम् । दित्यदितीति० । पा० ४ । १ । ८५ । अत्र वार्त्तिकम् । पृथिव्या आञौ । इति पृथिवी-अञ् । ञित्वाद् आद्युदात्तः । पृथिव्यां भवानाम् । ये । पशवः । जाताः । उत्पन्नाः । उत । अपि । जनित्राः । अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । इति जनु जनी-इत्र । जनिष्यमाणाः । उत्पत्स्य-

इस पुरुष को (प्राणः) प्राण [बाहिर जाने वाला श्वास] (मा हासीत्) न त्यागे, (मो=मा+उ) और न (अपानः) अपान [भीतर आने वाला प्रश्वास]। (इमम्) इस पुरुष को (मित्राः) मित्र (मा वधिषुः) न मारें, (मो=मा+उ) और न (अमित्राः) अमित्र [विरोधी अर्थात् वैरी लोग] ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर महा उपकार करके संसार के चर और अचर का शासक और नियन्ता है, इसी प्रकार मनुष्य को उपकारी होकर प्रयत्न करना चाहिये कि उस का स्वयम्, आत्मा और अन्य मित्र अथवा शत्रु सब प्रीति से आनन्द बढ़ाते रहें ॥ ३ ॥

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने । यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥

द्यौः । त्वा । पिता । पृथिवी । माता । जरा-मृत्युम् [जरा-अमृत्युम्] । कृणुताम् । संविदाने इति सम्-विदाने । यथा । जीवाः । अदितेः । उप-स्थे । प्राणापानाभ्याम् । गुपितः । शतम् । हिमाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पिता) पिता [के समान रक्षक] (द्यौः) सूर्य लोक और (माता) [के समान प्रीति करने वाली] (पृथिवी) पृथिवी लोक, (संविदाने) दोनों मिले हुये, (त्वा) तुझ को (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति के

मानाः। **इमम्** । प्राणिनम्। **प्राणः** । अ० २ । १५ । १ । ऊर्ध्वकायस्थो वायुः। **मा हासीत्** । ओहाक् त्यागे—लुङ्। न माङ्योगे। पा० ६।४।४। अडभावः। मा त्याक्षीत् **मो** । मा + उ । मैव । **अपानः** । अप+अन प्राणने, जीवने-अच् । अपानिति अधो निःसरतीति। अधरकायस्थो वायुः। **मित्राः** । स्नेहिनः । बान्धवाः । **मा वधिषुः** । लुङि च। पा० २।४। ४३। इति हन्तेर्वधादेशः। मा हिंसिषुः। **अमित्राः**। अमेर्द्विषति चित्। उ०। ४।१७४। इति अम रोगे, पीड़ने-इत्रच्। पीडकाः। शत्रवः॥

४-**द्यौः** । अ० २। १२। ६। द्योतमानः सूर्यः । **त्वा** । त्वां प्राणिनम्। **पिता** । अ० १।२।१। रक्षकः। जनकः। तद्वदुपकारकः। **पृथिवी** । अ०

साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु वाला (कृणुताम्) करें। (यथा) जिस से (अदितेः) अखण्ड परमेश्वर [अथवा अदीन प्रकृति, वा पृथिवी] की (उपस्थे) गोद में (प्राणापानाभ्याम्) प्राण और अपान से (गुपितः) रक्षा किया हुआ तू (शतम्) सौ (हिमाः) हेमन्त ऋतुओं तक (जीवाः) जीता रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी पुरुष प्रबन्ध रक्खे कि सूर्य का तेज और आकर्षण आदि सामर्थ्य और पृथिवी की अन्न आदि की उत्पादनादि शक्ति, और अन्य सब पदार्थ अनुकूल रहें, जैसे माता पिता सन्तानों पर प्रीति रखते हैं, जिस से वह पुरुष परमेश्वर के अनुग्रह से पृथिवी पर यशस्वी होकर पूर्ण आयु भोगे ॥ ४ ॥

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन्। मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥ ५ ॥

१।२।१। प्रख्याता भूमिः। **माता**। अ० १।२।१। मानकर्त्री, जननी। **जरामृत्युम्**। व्याख्यातं म० २। यशस्विनम्। **कृणुताम्**। कुरुताम्। **संविदाने**। मं० २। ऐकमत्यं प्राप्ते। **यथा**। यस्मात् कारणात्। **जीवाः**। जीव प्राणधारणे-लेटि आडागमः। त्वं जीवेः। प्राणान् धरेः। **अदितेः**। कृत्यल्युटो बहुलम्। पा० ३।३।११३। इति दीङ् क्षये, दो अवखण्डने, दाप् लवने-क्तिन्। द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति। पा० ७।४।४०। इति इत्वम्। दीङ् पक्षे ह्रस्वत्वं, नञ् समासः। अदितिः पृथिवी-निघ० १।१। वाक्-निघ० १। ११। गौः-निघ० २।११। अदीना देवमाता-निरु० ४।२२। मध्यस्थान देवतासु "प्रथमगामिनी-" निरु० ११।२२। अक्षीणस्य अखण्डस्य वा परमेश्वरस्य, अथवा अदीनायाः देवमातुः, मनुष्यसूर्यादिदिव्यपदार्थानां जनन्याः प्रकृतेः पृथिव्या वा। **उपस्थे**। क्रोड़े। उत्सङ्गे। **प्राणापानाभ्याम्**। म० ३। श्वासनिःश्वासाभ्याम्। **गुपितः**। गुपू रक्षणे-क्त। रक्षितः। **शतम्**। अपरिमिताः। **हिमाः**। हन्तेर्हि च। उ० १।१४७। इति हन हिंसागत्योः-मक्। अर्शआद्यच-टाप्। हिमं तुषारोऽस्ति यस्याम्। हेमन्तान् संवत्सरान्। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे। पा० २।३।५। इति द्वितिया ॥

इमम् । अग्ने । आयुषे । वर्चसे । नय । प्रियम् । रेतः । वरुण ।
मित्र । राजन् । माता-इव । अस्मै । अदिते । शर्म । यच्छ ।
विश्वे । देवाः । जरत्-अष्टिः । यथा । असत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि तत्व, (वरुण) हे जल तत्व ! (राजन्) हे बड़ी शक्ति वाले (मित्र) चेष्टा कराने वाले प्राण वायु ! (इमम्) इस पुरुष को (आयुषे) आयु [बढ़ाने] के लिये और (वर्चसे) तेज वा अन्न के लिये (प्रियम्) प्रसन्न करने वाला (रेतः) वीर्य वा सामर्थ्य (नय) प्राप्त करा । (अदिते) हे अदीन वा अखण्ड प्रकृति वा भूमि ! (माता इव) माता के समान (अस्मै) इस जीव को (शर्म) आनन्द (यच्छ) दान कर । (विश्वे) हे सब (देवाः) दिव्य पदार्थ वा महात्माओ ! (यथा) जिस से [यह पुरुष] (जरदष्टिः) स्तुति के साथ प्रवृति वा भोजन वाला (असत्) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि, जल, वायु, और पृथिवी तत्वों को प्रयत्न पूर्वक उचित खान पान ब्रह्मचर्यादि के नियम पालन से अनुकूल रक्खे, जिस से

५—इमम् । प्राणिनम् । अग्ने । हे अग्नितत्व । आयुषे । एतेर्णिच्च । उ० २ । ११८ । इति इण् गतौ-उसि । जीवनवर्धनाय । वर्चसे । अ० २ । १३ । २ । तेजसे । अन्नाय । नय । प्रापय । द्विकर्मकः । प्रियम् । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३।१।१३५। इति प्रीङ् प्रीतौ कः । अचि श्नुधातु भ्रुवां० पा०६।४।७७। इयङादेशः । हितकरम् । रेतः । स्रुरीभ्यां तुट् च । उ० ४ । २०२ । इति रीङ् क्षरणे-असुन्, तुट् च । शुक्रम् । वीर्यम् । प्रजननसामर्थ्यम् । वरुण । कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । इति वृञ् वरणे-उनन् । उत्तमं जलमिति दयानन्द सरस्वती तद्वृत्तौ । अपानवायुः—यथा । ब्रह्माण्डस्थौ गमनागमनशीलौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ-इति दयानन्दकृतयजुर्वेदभाष्ये, २ । ३ । तत्संबुद्धौ । मित्र । हे प्राणवायो यथा पूर्वोक्तम् । राजन् । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति राजृ दीप्तौ, ऐश्वर्ये-कनिन् । राजति=ईष्टे-निघ० २ । २१ । हे दीप्यमान, हे ऐश्वर्यवन् । मातेव । जननीव । अस्मै । प्राणिने । अदिते । म० ४ । हे प्रकृते । भूमे । शर्म । अ० १ । २० । ३ । शॄ हिंसायाम्-मनिन् । गृहम् । निघं० ३ । ४ । सुखम्-निघ० ३ । ६ । यच्छ । देहि । विश्वे । सर्वे । देवाः ।

शरीर की पुष्टि और आत्मा की उन्नति करके उत्साही, और यशस्वी होवें ॥ ५ ॥

टिप्पणी—बम्बई गवर्नमेन्ट पुस्तक की संहिता और पद पाठ में [मित्र-राजन्] एक पद है। परन्तु सायणभाष्य और अन्य दो पुस्तकों में (मित्र राजन्) दो पद हैं वही हम ने लिये हैं ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—७ ॥ बृहस्पतिरिन्द्रो वा देवता । १ अनुष्टुप्; ४ चतुर्थे चतुर्थो दैवी त्रिष्टुप्; अन्ये पादास्त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यः स्वोन्नतिं कुर्यादित्युपदिश्यते—मनुष्य अपनी उन्नति करता रहे, इस का उपदेश ॥

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आधाद् बृहस्पतिः ॥१ ॥

पार्थिवस्य । रसे । देवाः । भगस्य । तन्वः । बले । आयुष्यम् । अस्मै । अग्निः । सूर्यः । वर्चः । आ । धात् । बृहस्पतिः ॥१॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार कुशल, महात्माओ ! (अग्निः) सर्वव्यापक, (सूर्यः) लोकों में चलने वाला, वा लोकों का चलाने वाला, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े [ब्रह्माण्डों] का रक्षक परमेश्वर ! (पार्थिवस्य) पृथिवी पर वर्त्तमान

दिव्याः पदार्थाः पुरुषा वा । जरदष्टिः । जीर्यतेरतृन् । पा० ३ । २ । १०४ । इति बाहुकालात् जरतेः स्तुतिकर्मणः—अतृन् । अशू व्याप्तौ, अश भोजने-क्तिन् जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्भोजनं वा यस्य सः । यथा । येन प्रकारेण । असत् । अस्तेर्लेटि अडागमः । भवेत् ॥

१—पार्थिवस्य । अ० २ । २८ । ३ । भूमेः सम्बन्धिनः । रसे । रस स्वने आस्वादे-अच् । सारे शरीरपुष्टौ । देवाः । हे व्यवहारकुशला विद्वांसः । भगस्य । अ० १ । १४ । १ । भज सेवायाम्-घ । ऐश्वर्यस्य । तन्वः । अ० १ ।

(भगस्य) ऐश्वर्य के (तन्वः) विस्तार के (रसे) रस अर्थात् तत्त्व ज्ञान, और (बले) बल में (अस्मै) इस [जीव] को (आयुष्यम्) आयु बढ़ाने वाला (वर्चः) तेज [शरीर कान्ति और ब्रह्म वर्चस] (आ) सब ओर से (धात्=धत्तात्) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से आध्यात्मिक पक्ष में परमेश्वर के ज्ञान से, और आधिभौतिक पक्ष में (अग्नि) जो बिजुली आदि रूप से सब शरीरों में बड़ा उपयोगी पदार्थ है, और (सूर्य) जो अनेक बड़े बड़े लोकों को अपने आकर्षण आदि में रखता है, इन के विज्ञान से, अपनी शरीर कान्ति और आत्मिक शक्ति बढ़ावें, और पृथिवी आदि पदार्थों के सारतत्त्व से उपकार लेकर प्रतापी, यशस्वी, और चिरंजीवी बनें ॥ १ ॥

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

आयुः । अस्मै । धेहि । जात-वेदः । प्र-जाम् । त्वष्टः । अधि-निधेहि । अस्मै । रायः । पोषम् । सवितः । आ । सुव । अस्मै । शतम् । जीवाति । शरदः । तव । अयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्राणियों को जानने वा धन देने वाले परमेश्वर! [वा अग्नि] (अस्मै) इस [जीव] को (आयुः) आयु (धेहि) दे, (त्वष्टः)

१ । १ । विस्तारस्य । **बले** । आत्मशरीरसामर्थ्ये । **आयुष्यम्** । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । आयुस्-यत् । जीवनवर्धकम् । **अस्मै** । निर्दिष्टप्राणिने । **अग्निः** । व्यापकः । तेजोविशेषः । **सूर्यः** । अ० १ । ३ । ५ । राजसूयसूर्य० । पा० ३ । १ । ११४ । अत्र सिद्धान्तकौमुदीटीकायां भट्टोजिदीक्षितः । "सरत्याकाशे सूर्यः । यद्वा सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयतीति " । परमेश्वरः । सूर्यलोकः । **वर्चः** । तेजः शरीरकान्तिर्ब्रह्मवर्चसं च । **आ** । समन्तात् । यथाविधि । **धात्** । छान्दसं रूपम् । धत्तात् । धेयात् । स्थापयतु । **बृहस्पतिः** । अ० १ । ८ । २ । महतां पृथिव्यादिलोकानां रक्षकः प्रकाशवृष्टिदानेनाकर्षणेन च । परमात्मा । सूर्यः ॥

२ **आयुः** । जीवनम् । **अस्मै** । समीपस्थाय प्राणिने । **धेहि** । डुधाञ् धारणपोषणदानेषु । देहि । प्रयच्छ । **जातवेदः** । अ० १ । ७ । २ । वेदो धनम् ।

हे सूक्ष्म रचना करने वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इस को (प्रजाम्) प्रजा जन (अधि-निधेहि) अधिक २ संग्रह कर । (सवितः) हे परम ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इस को (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टता (आसुव) भेज दे, (तव) तेरा [सेवक] (अयं) यह [जीव] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवाति) जीता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के गुणों को विचार कर मनुष्य को (जातवेदाः) अपने लोगों का जाननेवाला, (त्वष्टा) विश्वकर्मा, सब कामों में कुशल और (सविता) महाप्रतापी होकर अपनी सामाजिक और आर्थिक शक्ति बढ़ा कर और संसार में कीर्ति फैला कर पूर्ण आयु भोगना चाहिये ॥ २ ॥

२—अग्नि के प्रभाव से शरीर में चेष्टा होती है, और सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से बल होता है । जो मनुष्य योग्य प्रयोग से इन को अनुकूल रखता है वह प्रजावान्, धनवान् और आयुष्मान् होता है ॥ २ ॥

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ । जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥

निघ० २ । १० । जातेभ्यः प्राणिभ्यो धनं ज्ञानं वा यस्मात् स जातवेदाः । हे प्राणिभ्यो धनप्रद, सर्वज्ञ, परमेश्वर । **प्रजाम्** । सन्तानम् । पुत्रपौत्रभृत्यादिकम् । **त्वष्टः** । अ० २ । ५ । ६ । त्वक्ष काश्य-तृन् । हे तनूकारक । विश्वकर्मन् । सूर्य । **अधिनिधेहि** । अधिकं बाहुल्येन स्थापय । **रायस्पोषम्** । अ० १ । ६ । ४ । रायो धनस्य पोषं वर्धनम् । **सवितः** । अ० १ । १८ । २ षु षू वा प्रसवैश्वर्ययोः-तृच् । स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा । पा० ७ । २ । ४४ । विकल्पाद् इडागमः । परमेश्वरः । वृष्टिदानादिना शरीरिणां जनयिता सूर्यः । हे उत्पादक । ऐश्वर्यवन् । **आ** । अभिमुखम् । **सुव** । षू प्रेरणे । प्रेरय । प्रापय । **शतम्** । बह्वीः । अपरिमिताः । **जीवाति** । जीव प्राणधारणे-लेट् । आडागमः । जीवतु । **शरदः** । अ० १।१०।२ । शरद् ऋतून् । संवत्सरान् । **तव** । तवानुगृहीतः । **अयम्** । प्राणी ॥

आ-शीः । नः । ऊर्जम् । उत । सौप्रजाः-त्वम् । दक्षम् । धत्तम् । द्रविणम् । स-चेतसौ । जयम् । क्षेत्राणि । सहसा । अयम् । इन्द्र । कृण्वानः । अन्यान् । अधरान् । स-पत्नान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (आशीः) आशीर्वाद [हो], (सचेतसौ) हे समान चित्त वाले [माता पिता तुम दोनों] ! (ऊर्जम्) अन्न, (सौप्रजास्त्वम =०=जस्त्वम्) उत्तम प्रजायें, (दक्षम्) बल, (उत) और (द्रविणम्) धन (धत्तम्) दान करो ।

(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर (अयम्) यह [जीव] (सहसा) [आप के] बल से (जयम्) जय और (क्षेत्राणि) ऐश्वर्य के कारण खेतों को (कृण्वानः) करता हुआ, और (अन्यान्) जीवित [वा भिन्न भिन्न] (सपत्नान्) विपत्तियों को (अधरान्) नीचे [करता हुआ] [जीवाति=जीता रहे-मं० २ से]॥३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (जीवाति) जीता रहे, इस पद की अनुवृत्ति मं० २ से है। माता पिता प्रयत्न करें कि उन के पुत्र पुत्री सब सन्तान, बड़े

३—**आशीः** । आङःशासु इच्छायाम्-क्विप्, उपधाया इत्त्वम् । आशीर्वादः । मङ्गलवचनम् । **नः** । अस्मभ्यम्+अस्तु । **ऊर्जम्** । ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप् । ऊर्गित्यन्नामोर्जयतीति सतः पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा-निरु० ३ । ८ । ऊर्जयति प्रबलति बलवन्तं प्राणवन्तं वा करोतीति सा ऊर्क् । अन्नम् । **उत** । अपि च । **सौप्रजास्त्वम्** । नित्यमसिच् प्रजामेधयोः । पा० ५ । ४ । १२२ । इति सु+प्रजा-असिच् । छान्दसौ वृद्धिदीर्घौ । सुप्रजस्त्वम् । शोभनसन्तानत्वम् । **दक्षम्** । दक्ष वृद्धौ—अच् । पुष्टिम् । दक्षः=बलम् निघ० २ । ६ । **धत्तम्** । युवां धारयतम् । स्थापयतम् । **द्रविणम्** । द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २२। ५० । इति द्रु गतौ-इनन् । धनम् । निघ० २ । १० । **सचेतसौ** । समानमनसौ। मातापितरौ । **क्षेत्राणि** । दादिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० इति क्षि क्षयैश्वर्यगतिनिवासेषु-त्रन् । क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मणः-निरु० १० । १४ । ऐश्वर्याणि । भूमिप्रदेशान् । **सहसा** । बलेन तव दत्तेन । **अयम्** । निर्दिष्टः पुरुषः । **इन्द्र** । हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् । **कृण्वानः** । कुर्वाणः । उत्पादयन् ।

अन्नवान्, बलवान्, और धनवान् होकर, उत्तम गृहस्थी बनें और जितेन्द्रिय होकर अपने दोषों और शत्रुओं का नाश करें ॥ ३ ॥

इन्द्रे॑ण द॒त्तो वरु॑णेन शि॒ष्टो म॒रुद्भि॑रु॒ग्रः प्रहि॑तो न॒ आग॑न् ।
ए॒ष वां॑ द्यावापृथिवी उ॒पस्थे॒ मा क्षु॑ध॒न्मा तृ॑षत् ॥४॥

इन्द्रे॑ण । द॒त्तः । वरु॑णेन । शि॒ष्टः । म॒रुत्-भिः॑ । उ॒ग्रः । प्र-हि॑तः । न॒ः । आ । अ॒ग॒न् । ए॒षः । वा॒म् । द्या॒वा॒पृ॒थि॒वी॒ इति॑ । उ॒प-स्थे॑ । मा । क्षु॒ध॒त् । मा । तृ॒ष॒त् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एषः) यह [जीव] (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा करके (दत्तः) दिया हुआ, (वरुणेन) श्रेष्ठ गुण वाले पिता करके (शिष्टः) शिक्षा किया हुआ, और (मरुद्भिः) शूर वीर महात्माओं करके (प्रहितः) भेजा हुआ, (उग्रः) तेजस्वी होकर, (नः) हम लोगों में (आ अगन्=अगमत्) आया है। (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) हे सूर्य और भूमि ! (वाम्) तुम दोनों की (उपस्थे) गोद में [यह जीव] (मा क्षुदत्) न भूखा रहे और (मा तृषत्) न पियासा मरे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपनी न्याय व्यवस्था से इस जीव को मनुष्य जन्म दिया है, माता पिता ने शिक्षा दी है, विद्वानों ने उत्तम विद्याओं का अभ्यास कराया है ; इस प्रकार वह अध्ययन समाप्ति पर समावर्तन कर के संसार में प्रवेश करे, और सूर्य पृथिवी आदि सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

अन्न्यान् । माछ्याशसिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति अन जीवने-य । अनिति जीवतीति अन्यः । जीवितान् । भिन्नान् । अधरान् । न+धृङ्-अच् । अधोगतान् । नीचान् । सपत्नान् । अ० १ । ६ । २ । सहपतनशीलान् । शत्रून् ॥

४—इन्द्रेण । परमैश्वर्यवता परमात्मना । दत्तः । दो दद्घोः । पा० ७ । ४ । ४६ । इति दा दाने-क्त, दद् भावः । लब्धजीवनः । वरुणेन । वृञ् । उनन् । श्रेष्ठजनकेन । शिष्टः । शासु शासने-क्त । शास इदङ्हलोः । पा० ६ । ४ । ३४ । इत्युपधाया इकारः । शासिवसिघसीनां च । पा० ८ । ३ । ६० ।

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥ ५ ॥

ऊर्जम् । अस्मै । ऊर्जस्वती इति । धत्तम् । पयः । अस्मै । पयस्वती इति । धत्तम् । ऊर्जम् । अस्मै । द्यावापृथिवी इति । अधाताम् । विश्वे । देवाः । मरुतः । ऊर्जम् । आपः ॥५॥

भाषार्थ—(ऊर्जस्वती=०—त्यौ) हे अन्न वाली [पिता और माता] दोनों ! (अस्मै) इस [जीव को] (ऊर्जम्) अन्न (धत्तम्) दान करो, (पयस्वती= ०—त्यौ) हे दूध वाली तुम दोनों ! (अस्मै) इस को (पयः) दूध वा जल (धत्तम्) दान करो । (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी ने (अस्मै)

इति सस्य पः । शासितः । अनुशातः । **मरुद्भिः** । अ० १ । २० । १ । शत्रुमारणशीलैः शूरैः । **उग्रः** । तेजस्वी । **प्रहितः** । हि गतौ-क्त । प्रेषितः, प्रेरितः । **नः** । अस्मान् । आ+अगन् । गमेर्लुङि । मन्त्रे घस० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । मो नो धातोः । पा० ८ ।२ । ६४ । इति नत्वम् । आगमन् **एषः** । प्राणी । **वाम्** । युवयोः । **द्यावापृथिवी** । हे द्यावापृथिव्यौ । तत्रस्थपदार्थाः-इत्यर्थः । **उपस्थे** । क्रोड़े । **मा क्षुधत्** । क्षुत्पीडां मां प्राप्नोतु । **मा तृषत्** । तृषार्तो मा भवतु । क्षुध् बुभुक्षायाम् । ञि तृषा पिपासायाम् । उभयोर्माङि लुङि पुषादित्वाद् अङ् ॥

५—**ऊर्जम्** । म० ३ । अन्नम् । **ऊर्जस्वती** । ऊर्ज बलप्राणनयोः— असुन् । ततो मतुप् । मस्य वः । तसौ मत्वर्थे । पा० १ । ४ । ४६ । इति भत्वाद् रुत्वाभावः । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । हे अन्नवत्यौ । बलवत्यौ मातापितरौ । **धत्तम्** । दत्तम् । **पयः** । अ० १ । ४ । १ । दुग्धम् । जलम् । **अस्मै** । जीवाय । **पयस्वती** । पूर्ववत् सिद्धिः । दुग्धवत्यौ । जलवत्यौ । **द्यावापृथिवी** । अ० २ । १ । ४ । प्रगृह्यत्वाद् अचि प्रकृतिभावः । सूर्यभूमी । **अधाताम्** । डुधाञ्-लुङ् । दत्तवत्यौ । **विश्वे** । सर्वे । **देवाः** । दिव्यगुणयुक्ताः ।

इस [जीव] को (ऊर्जम्) अन्न (अधाताम्) दिया है, (विश्वे) सब (देवाः) दिव्यगुण वाले (मरुतः) दोषनाशक, प्राण अपानादि वायु और (आपः) व्यापन शील जल ने (ऊर्जम्) अन्न [अधुः] [दिया है] ॥ ५ ॥

भावार्थ—माता पिता संतानों को ऐसी शिक्षा देकर उद्यमी करें कि वे खान पान आदि प्राप्त करके सदा सुखी रहें। सूर्य भूमि वायु जलादि प्राकृतिक पदार्थ अन्न पानादि देकर बड़ा उपकार कर रहे हैं। उस से सब को लाभ उठाना चाहिये ॥ ५ ॥

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥

शिवाभिः । ते । हृदयम् । तर्पयामि । अनमीवः । मोदिषीष्ठाः । सु-वर्चाः । स-वासिनौ । पिबताम् । मन्थम् । एतम् । अश्विनोः । रूपम् । परि-धाय । मायाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (शिवाभिः) मङ्गल करनेवाली [विद्याओं वा शक्तियों] से (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (तर्पयामि) मैं तृप्त करता हूं, तू (अनमीवः) नीरोग और (सुवर्चाः) उत्तम कान्ति वाला होकर (मोदिषीष्ठाः) हर्ष प्राप्त कर। (सवासिनौ) मिलकर निवास करनेवाले दोनों [स्त्री पुरुष] (अश्विनोः) माता

मरुतः । अ० १ । २० । १ । अथातो मध्यस्थाना देवगणास्तेषां मरुतः प्रथमगामिनो भवन्ति मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा—निरु० ११ । १३ । वायुः । ऋत्विजः । शूराः पुरुषाः । आपः । अ० १ । ४ । ३ । जलम् । आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, य० ६ । २७ ॥

६—शिवाभिः । शिव-टाप् । अ० २ । ६ । ३ । मङ्गलवतीभिर्विद्याभिः शक्तिभिर्वा । (शिवाभिष्टे) युष्मत्तत्ततुष्वन्तः पादम् । पा० ८ । ३ । १०३ । इति षत्वम् । ते । तव । हृदयम् । वृहोः षुग्दुकौ च । उ० ४ । १०० । इति हृञ् । कयन दुक् च । हरति स्वीकरोति विषयानिति । मनः । तर्पयामि । सुखयामि । अनमीवः । इणशीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति अम रोगे-वन्, ईडागमः ।

पिता के (रूपम्) स्वभाव और (मायाम्) बुद्धि को (परिधाय) सर्वथा धारण करके (एतम्) इस (मन्थम्) रस का (पिवताम्) पान करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर कहता है कि हे मनुष्य तेरे आनन्द के लिये मैं ने तुझे अनेक विद्यायें और शक्तियां दी हैं, तुम दोनों स्त्री पुरुषो ! माता पिता रूप से संसार का उपकार करके इस [मेरे दिये] आनन्दरस को भोगो ॥६॥

इन्द्र॑ एतां स॑सृजे वि॒द्धो अग्र॑ ऊ॒र्जां स्व॒धाम॒जरां॒ सा त॑ ए॒षा । तया॒ त्वं जी॑व श॒रदः॑ सु॒वर्चा॒ मा त॒ आ सु॑स्रोद्भि॒षज॑स्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

इन्द्रः॑ । ए॒ताम् । स॒सृ॒जे॒ । वि॒द्धः । अग्रे॑ । ऊ॒र्जाम् । स्व॒धाम् । अ॒जरा॑म् । सा । ते॒ । ए॒षा । तया॑ । त्वम् । जी॒व॒ । श॒रदः॑ । सु॒-वर्चाः॑ । मा । ते॒ । आ । सु॒स्रो॒त् । भि॒षजः॑ । ते॒ । अ॒क्र॒न् ॥७॥

भाषार्थ—(विद्धः) सेवा किये हुये (इन्द्रः) परमेश्वर ने (एताम्) इस (अजराम्) अक्षय (ऊर्जाम्) अन्नयुक्त (स्वधाम्) अमृत को (अग्रे)

रोगरहितः। **मोदिषीष्ठाः** । मुद हर्षे ।आशिषि लिङ्। मोदस्व ।हृष्टो भव। **सुवर्चाः** । सु+वर्च-असुन्। सुजेनस्कः। **सवासिनौ** । व्रते। पा० ३ । २ । ८० । इति वस निवासे-णिनि। समानस्य सभावः। पुमान् स्त्रिया। पा० १।२। ६७। इत्येकशेषः। समानम् एकत्रनिवसन्तौ स्त्रीपुरुषौ। **पिवताम्** । पीतं कुरुताम्। **मन्थम्** । मन्थ गाहे-घञ् विलोडनम्। रसम्। **एतम्** । निर्दिष्टम्। वेदोक्तम्। **अश्विनौ** । अशुप्रुषिलटि०। उ० १ । १५१। अशू व्याप्तौ-क्वन्। अश्वो व्याप्तिः—इनि प्रत्ययः। एकशेषः पूर्ववत्। अश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येके-ऽहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः—निरु० १२।१ । कार्येषु व्याप्तिमतोः, जननीजनकयोः। **रूपम्** । स्वभावम्। **परिधाय** । धृत्वा। **मायाम्** । माछाससिभ्यो यः। उ० ४ । १०९। माङ् माने य, टाप्। बुद्धिम्। प्रज्ञाम्-निघ० ३ ।९॥

७—**इन्द्रः** । परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः। **एताम्** । सर्वत्र विद्यमानाम्। **ससृजे** । सृज-लिट्। सृष्टवान्। उत्पादितवान्। **विद्धः** । विध विधाने-क-

पहिले से (ससृजे) उत्पन्न किया है। (सा एषः) सो यह (ते) तेरे लिये [है], (तया) उस [अमृत] से (त्वम्) तू (सुवर्चाः) उत्तम कान्ति वाला होकर (शरदः) बहुत शरद् ऋतुओं तक (जीव) जीता रह, (आ) और [मा स्वधा] [वह] (ते) तेरे लिये (मा सुस्रोत्) न घट जावे। (भिषजः) वैद्यों ने (ते) तेरे लिये [उस अमृत को] (अक्रन्) बनाया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—अनादि परमेश्वर ने सृष्टि के पहिले मनुष्य को अमृत रूप सार्वभौम ज्ञान दिया है उस की कभी हानि नहीं होती, मनुष्य जितना जितना उसे काम में लाता है उतना ही वह बढ़ता जाता है और सुखदायक होता है। उसके उचित प्रयोग से मनुष्य पूर्ण आयु भोगता है। बुद्धिमानों ने बुद्धि को महौषधि बनाया है ॥ ७ ॥

(ऊर्जाम्) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (ऊर्जम्) है ॥

तुदादिः, छन्दसि अनिट्। विधेम=परिचरेम-निघ० ३।५. वेधितः। परिचरितः। सेवितः। **अग्रे**। सर्वेभ्यः पूर्वम्। **ऊर्जाम्**। म० ३। ऊर्क्=अन्नं बलं वा। ततः, अर्शआद्यच्, टाप्। अन्नवतीम्। बलवतीम्। **स्वधाम्**। आः समिण्-निकषिभ्याम्। उ० ४। १७५। इति ष्वद स्वादे-आ, दस्य धः। स्वादयति रसान् उत्पादयतीति स्वधा। यद्वा। आतो ऽनुपसर्गे कः। पा० ३। २। ३। इति स्व+डुधाञ् धारणपोषणदानेषु-क, टाप्। अथवा क्विप्। स्वम् आत्मानं भोक्तृशरीरं दधाति पुष्णातीति वा स्वधा। यद्वा। स्व+धेट् पाने-क, टाप्। उदकम्। निघ० १। १२। अन्नम्-निघ० २। ७। पितॄणाम् अन्नम्। अमृतम्। शरीरपोषकं पदार्थम्। **अजराम्**। ऋच्छेररः उ० ४। १३१। इति अज गतिक्षेपणयोः—अर प्रत्ययः, टाप्। गतिशीलाम्। उत्साहवर्धयित्रीम्। यद्वा। जॄ-ष् वयोहानौ-अङ्, टाप्। अक्षीणाम्। **ते**। तुभ्यम्। **तया**। स्वधया। **जीव**। प्राणान् धारय। **शरदः**। अ० १। १०। २। शरदृतून्। वर्षाणि। **आ**। आप्लृ व्याप्तौ-क्विप्, पलोपः। समुच्चये। यथा। देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च आ। **मा सुस्रोत्**। स्रु गतौ-लङि, छन्दसि शपः श्लुः। नष्टो मा भूत्। **भिषजः**। अ० २। ६। ३। चिकित्सकाः। **अक्रन्**। मन्त्रे घस०। पा० २। ४। ८०। इति करोतेः—च्लेर्लुक्। अकार्षुः ॥

सूक्तम् ॥ ३० ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ पङ्क्तिः, २—५ अनुष्टुप् ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशायोपदेशः—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये उपदेश ॥

यथे॒दं भूम्या॒ अधि॒ तृणं॒ वातो॑ मथा॒यति॑ । ए॒वा म॑थ्नामि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॑ ॥१॥

यथा॑ । इ॒दम् । भूम्याः॑ । अधि॑ । तृण॑म् । वातः॑ । म॒था॒यति॑ । ए॒व । म॒थ्ना॒मि॒ । ते॒ । मनः॑ । यथा॑ । माम् । का॒मिनी॑ । अस॑ः । यथा॑ । मत् । न । अप॑-गाः । अस॑ः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि के (अधि) ऊपर (इदम्) इस (तृणम्) तृण को (मथायति) चलाता है। (एव) वैसे ही (ते) तेरे (मनः) मन को (मथ्नामि) मैं चलाता हूं, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) वियोग करने वाली (न) न (असः) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्यासमाप्ति पर ब्रह्मचारी अपने अनुरूप गुणवती कन्या को ढूंढ़े, और कन्या भी अपने सदृश वर ढूंढ़े। इस प्रकार विवाह होने से वियोग न होकर आपस में प्रेम बढ़ता और आनन्द मिलता है ॥ १ ॥

१—**यथा** । येन प्रकारेण । **इदम्** । परिदृश्यमानम् । **भूम्याः** । अ० १ । ११ । २ । पृथिव्याः । **अधि** । उपरि । **तृणम्** । तृहेः क्नो हलोपश्च । उ० ५ । ८ । इति तृह हिंसायाम्—क्न, हलोपः । तृह्यते हन्यते भक्ष्यते । गवादिभिः । गवादिभक्ष्यम् । **वातः** । अ० १ । ११ । ६ । वायुः । **मथायति** । छन्दसि शायजपि। पा० ३ । १ । ८४ । इति बाहुलकात् मथ विलोडने—शायच् । विलोडयति । भ्रामयति । **एव** । एवम् । तथा । **मथ्नामि** । मन्थ विलोडने । विलोडयामि । **ते** । तव । **मनः** । मन—असुन् । चित्तम् । **यथा** । यस्मात् कारणात् । **माम्** । कामयमानं वरम् । **कामिनी** । कमेर्णिजन्ताद् औणादिक इनि प्रत्ययः । ङीप् । भविष्यति गम्यादयः। पा० ३ । ३ । ३ । इति भविष्यदर्थत्वम् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० इति कर्मणि षष्ठी प्रतिषेधत्वात् (माम्) इति

(भूम्याः) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (भूम्याम्) है।

इस मन्त्र का अन्तिम भाग (यथामां—मन्नापगा असः) अ० १ । ३४ । ५, और ६ । ८ । १-३ । में भी है।

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥ २ ॥

सम् । च । इत् । नयाथः । अश्विना । कामिना । सम् । च । वक्षथः । सम । वाम् । भगासः । अग्मत । सम् । चित्तानि । सम् । ऊं इति । व्रता ॥ २ ॥

भाषार्थ—(च) और (अश्विना=०—नौ) हे कार्य में व्याप्ति वाले माता और पिता, तुम दोनों, (इत्) ही (कामिना=०—नौ) कामना वाले दोनों [वर कन्या] को (सम्) मिल कर (नयाथः) ले चलो, (च) और (सम्) मिल कर (वक्षथः) आगे बढ़ाओ। (वाम्) तुम दोनों के (भगासः=भगाः) सब ऐश्वर्य (सम् अग्मत) [हम को] मिल गये हैं, (चित्तानि) [हमारे] चित्त (सम=सम्+अग्मत) मिल गये हैं, (उ) और भी (व्रता=व्रतानि) नियम और कर्म (सम्+अग्मत) मिल गये हैं ॥ २ ॥

द्वितिया । काङ्क्षिष्यन्ती । असः । भवेः । मत् । मत्तः सकाशात् । न । निषेधे । अपगाः । जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति गमेर्विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् । अपसृत्य गन्त्री । वियोगं प्राप्ता ॥

२—सम । मिलित्वा । संगत्य । च । समुच्चये । इत् । अवश्यम् । नयाथः । नयतेर्लेटि आडागमः । प्रापयतम् । अश्विना । अ० २ । २९ । ६ । हे कार्येषु व्यापनशीलौ मातापितरौ । कामिना । म० १ । कम-णिच्-इनि । कामयमानौ । कन्यावरौ । वक्षथः । वहेर्लेटि अडागमः, सिप् च । युवां वहतम । संयोजयतम् । वाम । युवयोः । भगासः । आज्जसेरसुक् । पा० ७ । १ । ५० । इति जसि असुक् । भगाः । भजनीयानि, ऐश्वर्याणि । सम+अग्मत । समोगम्यृच्छि० । पा० १ । ३ । २९ । आत्मनेपदम् । लुङि च्लेर्लुक्,

भावार्थ—वर और कन्या माता पिता आदि बड़ों की भी सम्मति प्राप्त करें। उनके अनुग्रह से दोनों ने विद्या धन और सुवर्ण आदि धन, और परस्पर एक चित्त होने और नियम पालन की शक्ति को पाया है। यह मूल मन्त्र गृहस्थाश्रम में आनन्द वर्धक है॥

यत् सु॑प॒र्णा वि॑व॒क्षवो॑ अनमी॒वा वि॑व॒क्षवः॑।
तत्र॑ मे गच्छता॒द्धवं॑ श॒ल्य इ॑व॒ कुल्म॑लं॒ यथा॑ ॥ ३ ॥

यत्। सु॒ऽप॒र्णाः। वि॒व॒क्षवः॑। अ॒न॒मी॒वाः। वि॒व॒क्षवः॑। तत्र॑। मे॒। ग॒च्छ॒ता॒त्। हव॑म्। श॒ल्यः॒ऽइ॑व। कु॒ल्म॑लम्। यथा॑॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्=यत्र) जहां (सुपर्णाः) बड़ी पूर्त्ति वाले [अथवा गरुड़ गिद्ध, मोर आदि के समान दूर दर्शी पुरुष] (विवक्षवः) विविध प्रकार से राशि वा समूह करने वाले, और (अनमीवाः) रोगरहित स्वस्थ पुरुष (विवक्षवः) बोलने वाले हो, (तत्र) उस स्थान में [वह वर वा कन्या] (मे) मेरी [वर व कन्या को] (हवम) पुकार [विज्ञापन] को (गच्छतात्] पावे, (शल्यः इव) जैसे बाण की कील (यथा) जिस प्रकार (कुल्मलम्) अपने दंडे में [पहुंचती है] ॥ ३ ॥

सम्यग् अगमन्। **चित्तानि**। चिती ज्ञाने-क्त। मनांसि। **व्रतानि** पृषिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। इति वृञ्-अतच्। कित्त्वाद् गुणाभावः, यणादेशः। व्रतमिति कर्म नाम वृणोतीति सत इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म वारयतीति सतोऽन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम्-निरुक्ते— २। १३। कर्माणि। नियमान्॥

३—**यत्**। यत्र स्थाने। **सुपर्णाः**। अ० १। २४। १। सुपालनाः. सुपूरणाः। सुपतनशीला गरुड़ादयः पक्षिणो यथा। **विवक्षवः**। भृमृशीङ्०। उ० १। ७। इति वि+वक्ष रोषसंहत्योः—उ। विविधं राशीकरणशीलाः, विद्यासुवर्णादीनाम्। **अनमीवाः**। अ० २। २६। ६ रोगरहिताः। स्वस्थाः। **विवक्षवः**। ब्रुवः सनि वच्यादेशे। सनाशंसभिक्ष उः। पा० ३। २। १६८। उप्रत्ययः। वक्तुमिच्छवः। **तत्र**। तस्मिन् स्थाने। **मे**। मम। **गच्छतात्**। प्राप्नुयात् वरः कन्या वा। **हवम्**। अ० १। १५। २। ह्वेञ्-अप्। आवाहनम्। विज्ञापनम्। **शल्यः**।

भावार्थ—जहां विद्वान् पुरुषों में रहकर वर ने, और विदुषी स्त्रियों में रहकर कन्या ने विद्या और सुवर्णादि धन प्राप्त किये हों; और नीरोग रहने और धर्म उपदेश करने की शिक्षा पायी हो, वहां पर उन दोनों के विवाह की बात चीत पहुंचे, और ऐसी दृढ़ होजावे जैसे बाण की कील, बाण की दंडी में पक्की जम जाती है ॥ ३ ॥

यदन्त॑रं॒ तद् बाह्यं॒ यद् बाह्यं॒ तदन्त॑रम् ।
क॒न्या॑नां वि॒श्वरू॑पाणां॒ मनो॑ गृभायौषधे ॥ ४ ॥

यत् । अन्त॑रम् । तत् । बाह्य॑म् । यत् । बाह्य॑म् । तत् । अन्त॑रम् । क॒न्या॑नाम् । वि॒श्व-रू॑पाणाम् । मनः॑ । गृ॒भा॒य॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे वर ! (यत्) जो कुछ [प्रीति भाव आदि] (अन्तरम्) भीतर [तेरे हृदय में] है, (तत्) वह (बाह्यम्) बाहिर [कन्या को प्रकट] हो, और (यत्) जो कुछ [प्रीति भाव] (बाह्यम्) बाहिर [प्रकट किया जाय,] (तत्) वह (अन्तरम्) भीतर [कन्या के हृदय में स्थिर हो] (ओषधे) हे ताप नाशक [ओषधिरूप वर] (विश्वरूपाणाम्) सर्वसुन्दरी (कन्यानाम्) कन्याओं [कन्या] के (मनः) मन को (गृभाय) ग्रहण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—वर हार्दिक प्रीति से कन्या के साथ व्यवहार करे, और पत्नी भी पति से हार्दिक प्रीति रक्खे । इस प्रकार परस्पर प्रसन्नता से गृह लक्ष्मी बढ़ेगी और नित्य प्रति आनन्द रहेगा । (कन्यानाम्) बहुवचन एक के लिये आदरार्थ है, और मन्त्र में जो वर को उपदेश है वही कन्या के लिये भी समझना चाहिये ॥ ४ ॥

सानसिवर्णसिपर्णसि...शल्याः । उ० ४।१०७। इति शल गतौ-य । बाणाग्रभागः । शस्त्रविशेषः । कुल्मलम् । कुषेर्लश्च । उ० ४ । १८८ । इति कुष निष्कर्षे, दीप्तौ क्मलन् । षस्य लः । कुष्मलम् । छेदनम् । बाणदण्डछिद्रम् ॥

४—यत् । किञ्चित्, प्रीतिभावः । शुभविचारः । अन्तरम् । अन्त+रा-क । अन्तं राति ददाति । मध्यम् । अन्तर्धानम् । आत्मीयम् । बाह्यम् । दित्यदित्यादित्य० । पा० ४ । १ । ८५ । अत्र वार्त्तिकम् । बहिषष्टिलोपो यञ् च । इति बहिस्-यञ्, टिलोपश्च । बहिष्ठम् । प्रकटम् । कन्यानाम् । अघ्न्यादयश्च ।

एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

आ । इयम । अगन् । पति-कामा । जनि-कामः । अहम् । आ । अगमम् । अश्वः । कनिक्रदत् । यथा । भगेन । अहम् । सह । आ । अगमम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (पतिकामा) पति की कामना करती हुई कन्या (आ+अगन्=आगमत्) आयी है, और (जनिकामः) पत्नी की कामना वाला (अहम्) मैं (आ+अगमम्) आया हूं। (अहम्) मैं (भगेन) ऐश्वर्य के (सह) साथ (आ+अगमम्) आया हूं। (यथा) जैसे (कनिक्रदत्) हींसता हुआ (अश्वः) घोड़ा ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे बलवान् घोड़ा मार्ग गमन, अन्न, घास आदि भोजन के समय हिनहिनाकर प्रसन्नता प्रकट करता है, इसी प्रकार विद्या समाप्ति पर पूर्ण विद्वान् और समर्थ कन्या और वर गृहाश्रम में प्रवेश करके आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

उ० ४ । ११२ । इति कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—यच्, टाप् च । आदरार्थं बहुवचनम् । दीप्यमानायाः । कमनीयायाः । कुमार्याः । **विश्वरूपाणाम्** । सर्वाङ्गसुन्दरीणाम् । **मनः** । चित्तम । **गृभाय** । छन्दसि शायजपि । पा० ३ । १ । ८४ । इति ग्रहे लोटि श्नः शायजादेशः । हस्य भः । गृहाण । **ओषधे** । अ० । १ । २३ । १ । हे तापनाशक । ओषधिरूपवर ॥

५—**इयम्** । कमनीया कन्या । **आ+अगन्** । गमेर्लुङि तिपि च्लेर्लुकि । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । आगमत् । **पतिकामा** । भर्त्तारमिच्छन्ती । **जनिकामः** । जनिघसिभ्यामिण् । उ० ४ । १३० । इति जन जनने वा जनी प्रादुर्भावे—इण् । जनिवध्योश्च । पा० ७ । ३ । ३५ । इति वृद्धिनिषेधः । जनयति वीरपुत्रान् जायते सुखमनया सा जनिर्जाया । तां कामयमानः । **अहम्** । वरः । **आ+अगमम्** । आगतवानस्मि । **अश्वः** । अ० १ । १६ । ४ । तुरङ्गः । **कनिक्रदत्** । दाधर्त्तिदर्द्धर्त्ति० । पा० ७ । ४ । ६५ । इति क्रन्द आह्वाने यङि शत्रन्तो निपातितः । भृशं हेषां कुर्वन् । **भगेन** । भजनीयेन पत्नीरूपैश्वर्येण । **सह** । सङ्गतः ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्; ३, ५ त्रिष्टुप् ।

स्वल्पानपि दोषान्नाशयेत्—छोटे २ भी दोषों का नाश करे ॥

इन्द्र॑स्य॒ या म॒ही दृ॒षत् क्रिमे॒र्विश्व॑स्य॒ तर्ह॑णी ।
तया॑ पिनष्मि॒ सं क्रिमी॑न् दृ॒षदा॒ खल्वाँ॑ इव ॥ १ ॥

इन्द्र॑स्य । या । म॒ही । दृ॒षत् । क्रिमेः॑ । विश्व॑स्य । तर्ह॑णी ।
तया॑ । पि॒न॒ष्मि॒ । सम् । क्रिमी॑न् । दृ॒षदा॑ । खल्वा॑न्-इव ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर की (या) जो (मही) विशाल [सर्वव्यापिनी विद्यारूप] (दृषत्) शिला (विश्वस्य) प्रत्येक (क्रिमेः) कृमि (कीड़े) की (तर्हणी) नाश करने वाली है, (तया) उस से (क्रिमीन्) सब कृमियों को (सम्) यथा नियम (पिनष्मि) पीस डालूं, (इव) जैसे (दृषदा) शिला से (खल्वान्) चनों को [पीसते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी अटूट न्याय व्यवस्था से प्रत्येक दुराचारी को दंड देता है, इस प्रकार मनुष्य अपने छोटे २ दोषों को नाश करे। क्योंकि छोटे छोटों से ही बड़े बड़े दोष उत्पन्न होकर अन्त में बड़ी हानि पहुंचाते हैं। जैसे कि शिर वा उदर में छोटे २ कीड़े उत्पन्न होकर बड़ी व्याकुलता और रोग के कारण होते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्त में कृमियों के उदाहरण से क्षुद्र दोषों के नाश का उपदेश है ॥

इस सूक्त और आगामी सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५ सूक्त २३ से कीजिये ॥

१—**इन्द्रस्य** । परमैश्वर्यवतः परमात्मनः । **मही** । मह पूजायाम्-अच् । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । मह्यते मही । महती । विशाला । **दृषत्** । दृणातेः पुग्घ्रस्वश्च । उ० १ ।१३१ । इति दृ विदारे-अदि प्रत्यये-धातोः पुक् ह्रस्वश्च । दीर्यते यया । शिला । **क्रिमेः** । क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच्च । उ० ४ । १२२ । इति क्रमु पादविक्षेपे-इन्, कित्, अत इत् । कृमेः । क्षुद्रजन्तोः कीटस्य । **विश्वस्य** । सर्वस्य । प्रत्येकस्य । **तर्हणी** । तृह हिंसे-करणे ल्युट् । ङीप् । हन्त्री । **पिनष्मि** । पिष्लृ संचूर्णे । संचूर्णयामि । **क्रिमीन्** । कीटान् । **दृषदा** । शिलया । **खल्वान्** । सर्वनिघृष्व० । उ० १ । १५३ । इति खल संचये-वन् । चणकान्-इति सायणः ॥

दृ॒ष्टम॒दृष्ट॑मतृह॒मथो॑ कु॒रूरु॑मतृहम् । अ॒ल्गण्डू॒न्त्सर्वा॑ञ्छ॒लुना॑न् क्रि॒मी॒न् वच॑सा जम्भयामसि ॥ २ ॥

दृ॒ष्टम् । अ॒दृष्ट॑म् । अ॒तृ॒ह॒म् । अथो॒ इति॑ । कु॒रूरु॑म् । अ॒तृ॒ह॒म् । अ॒ल्गण्डू॑न् । सर्वा॑न् । श॒लुना॑न् । क्रिमी॑न् । वच॑सा । ज॒म्भ॒या॒म॒सि॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दृष्टम्) दीखते हुये और (अदृष्टम्) न दीखते हुये [क्रिमिगण] को (अतृहम्) मैं ने नष्ट कर दिया है, (अथो) और भी (कुरूरुम्) भूमि पर रेंगने वाले, वा बुरे प्रकार से सताने वा भिन भिनाने वाले को (अतृहम्) मैं ने नष्ट कर दिया है। (सर्वान्) सब (अलगण्डून्) उपधानों [तकियों] में भरे हुये, (शलुनान्) वेग वेग चलने वाले (क्रिमीन्) कीड़ों को (वचसा) वचन से (जम्भयामसि=०—मः) हम मार डालें ॥ २ ॥

भावार्थ—१, जैसे मनुष्य बड़े और छोटे क्षुद्र जन्तुओं को, जो अशुद्धि, मलिनता आदि से उत्पन्न होकर बड़े २ रोगों के कारण होते हैं, मार डालते हैं, इसी प्रकार अपने छोटे २ दोषों का शीघ्र ही नाश करना चाहिये ॥ २ ॥

२—(वचसा जम्भयामसि) वचन से हम मार डालें। इसका यह अभिप्राय है कि। १—वचन मात्र से अर्थात् शीघ्र ही, २—ओषधि, शौच आदि

२—दृष्टम् । दृष्टिगोचरम् । स्थूलशरीरयुक्तम् । अदृष्टम् । अगोचरम् । सूक्ष्मकायम् । अस्माकं शरीरान्तः स्थितं वा । अतृहम् । तृह हिंसायाम्-छन्दसि लङि च्लेरङ् । नाशितवानस्मि । अथो । अथ+उ । अपि च । कुरूरुम् । कु-रुरुम् । कु शब्दे, आर्त्तस्वरे-डु । कवन्ते शब्दयन्ति प्राणिनो यत्र सा कुः पृथिवी । कुवन्ते आर्त्तस्वरं कुर्वन्ति यस्मात् कु पापम्, कुत्सा । रुशातिभ्यां क्रन् । उ० ४ । १०३ । इति रुङ् गतौ वधे, वा रु ध्वनौ-क्रुन् । छान्दसो दीर्घः । कौ भूमौ रवते गच्छतीति कुरुरुः । यद्वा, कुत्सितं रवते हिनस्ति, वा रौति ध्वनयतीति कुरुरुः । भूमिगन्तारम् । कुहिंसकम् । कुत्सितध्वनियुक्तं कीटम् ।

के हित उपदेश से, ३—ओ३म् शब्द, गायत्री आदि मन्त्र के जप से, ४—रोचक कथा, लौरी वा गीत आदि के सुनाने से चित्त को शान्ति, और शान्ति से कुरोग और कुवासनाओं का नाश होता है ॥

टिप्पणी—(कुरूरुम्) के स्थान पर सायणभाष्य में [कुरीरम्] और (शलुनान्) के स्थान पर (शल्गान्) है ॥

अ॒ल्गण्डू॑न् हन्मि मह॒ता व॒धेन॑ दू॒ना अदू॑ना अ॒र॒सा अ॑भूवन् । शि॒ष्टान॑शिष्टा॒न् नि ति॑रामि वा॒चा यथा॒ क्रिमी॑णां॒ नकि॑रु॒च्छिषा॑तै ॥ ३ ॥

अ॒ल्गण्डू॑न् । ह॒न्मि॒ । म॒ह॒ता । व॒धेन॑ । दू॒नाः । अदू॑नाः । अ॒र॒साः । अ॒भू॒व॒न् । शि॒ष्टान् । अशि॑ष्टान् । नि । ति॒रा॒मि॒ । वा॒चा । यथा॑ । क्रिमी॑णाम् । नकिः॑ । उ॒त्-शिषा॑तै ॥ ३ ॥

भावार्थ—(अल्गण्डून्) उपधानों [तकियों में] भरे हुये जन्तुओं को (महता) बड़ी (वधेन) चोट से (हन्मि) मैं मारता हूं । (दूनाः) तपे

अल्गराडून । अल्-गण्डून् । अल पर्याप्तौ-क्विप् । भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति गडि कपोलविषयक्रियायाम्-उ । गण्डयते शिरोभागः स्थाप्यतेऽत्रेति गण्डुः । उपधानम् । अलन्ति पर्याप्ता भवन्ति गण्डुषु, उपधानेषु ये तान् । **सर्वान्** । निःशेषान् । **शलुनान्** । कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । इति शल वेगे-उनन् । शीघ्रगतीन् । **क्रिमीन्** । म० १ । कीटान् । **वचसा** । वच कथने-असुन् । वचनेन । कथनेन । वचनमात्रेण, अतिशीघ्रम् । ओषधिशौचादि-हितकथनेन-ओ३म्, गायत्र्यादिजपेन-रोचककथा-निद्रागीतादि वर्णनेन-इत्ये-षमर्थाः । **जम्भयामसि** । जभि नाशे, नाशने च । रधिजभोरचि । पा० ७ । १ । ६१ । इति नुम् । जम्भयामः । नाशयामः ॥

३—**अल्गण्डून्** । म० २ । उपधानेषु पूर्णान् । **हन्मि** । नष्टीकरोमि । **महता** । अ० १ । १० । ४ । प्रभूतेन । **वधेन** । हनश्च वधः । पा० ३ । ३ । ७६ । इति हन-अप्, वधादेशः । हननसाधनेन । प्रहारेण । **नाः** । धादिभ्यः ।

हुये और (अदूनाः) विना तपे हुये [पक्के और कच्चे कीड़े] (अरसाः) नीरस [निर्बल] (अभूवन्) हो गये हैं। (शिष्टान्) बचे हुये (अशिष्टान्) दुष्टों को (वाचा) वचन से (नि) नीचे डाल कर (तिरामि) मार डालूं, (यथा) जिस से (क्रिमीणाम्) कीड़ों में से (नकिः) कोई भी न (उच्छिषातै) बचा रहै ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १, और २ के समान है ॥ ३ ॥

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं१ मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्। अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

अनु-आन्त्र्यम्। शीर्षण्यम्। अथो इति। पार्ष्टेयम्। क्रिमीन्। अवस्कवम्। वि-अध्वरम्। क्रिमीन्। वचसा। जम्भयामसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अन्वान्त्र्यम्) आंतों में के (शीर्षण्यम्) शिर पर वा शिर में के (अथो=अथ-उ) और भी (पार्ष्टेयम्) पसलियों में के (क्रिमीन्) इन सब कीड़ों को, (अवस्कवम्) नीचे २ रेंगने वाले [जैसे दद्रु कृमि] और

पा० ८। २। ४४। अत्र वार्त्तिकम्। दुग्वोर्दीर्घश्च। इति दु गतौ-क्त। अथवा। ओदितश्च। पा० ८। २। ४५। इति ओदूङ् खेदे उपतापे-क्त। तस्य नः। खेदिताः। परितप्ताः। **अदूनाः**। अखेदिताः। अतप्ताः। **अरसाः**। शुष्काः। निर्बलाः। **शिष्टान्**। शिष असर्वोपयोगे-क्त। अवशिष्टान्। शेषान्। **अशिष्टान्**। शासु शासने-क्त। शास इदङ् हलोः। आ० ६। ४। ३४। इति इकारः। शासिवसिघसीनाम् च। पा० ८। ३। ६०। इति सस्य षः। शिष्टविरोधिनः। दुष्टान। **नि+तिरामि**। निपूर्वस्तिरतिर्हिंसने। निहन्मि। **वाचा**। वचसा म० २। **क्रिमीणाम्**। कीटानां मध्ये। **नकिः**। न कश्चिदपि। **उच्छिषातै**। शिष्लृ विशेषणे लेटि आडागमः। छन्दसि आत्मनेपदम्। टेरेत्वे कृते। वैतोऽन्यत्र। पा० ३। ४। ९६। इति ऐत्वम्। उच्छिष्यात् ॥

४-**अन्वान्त्र्यम्**। अस्जिगमिनमिहनिविश्यशां वृद्धिश्च। उ० ४। १६०। इति अम गतौ, यद्वा, अति बन्धने—ष्ट्रन्, धातोर्वृद्धिश्च। अन्त्यते बध्यते देहोऽ-

(व्यध्वरम्) छेद करने वाले वा पीड़ा देने वाले, वा यज्ञ के विरोधी (क्रिमीन्) इन सब कीड़ों को (वचसा) वात मात्र से (जम्भयामसि = ०-मः) हम नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ और २ के समान है ॥ ४ ॥

सायणभाष्य में (पार्ष्टेयम्) के स्थान पर [पार्ष्णेयम्] है ॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व १ न्तः । ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

ये । क्रिमयः । पर्वतेषु । वनेषु । ओषधीषु । पशुषु । अप्-सु । अन्तः । ये । अस्माकम् । तन्वम् । आ-विविशुः । सर्वम् । तत् । हन्मि । जनिम । क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (क्रिमयः) कीड़े (पर्वतेषु) पहाड़ों में, (वनेषु)

नेनेति आन्त्रं देहबन्धको नाड़ीभेदः । शरीरावयवाच्च । पा० ४ । ३ । ५५ । इति भवे यत् । अनुक्रमेण आन्त्रेषु भवम् । शीर्षण्यम् । शरीरावयवाच्च पा० ४ । ३ । ५५ । इति शिरस्-यत् । ये च तद्धिते । पा० ६ । १ । ६१ । इति शीर्षन् आदेशः । शिरसि भवम् । पार्ष्टेयम् । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति पृषु सेके—क्तिच् । इति पृष्टिः—अ० २ । ७ । ५ । ततो ढञ् । आयनेयीनीयियः० । पा० ७ । १ । २ । इति ढस्य एयादेशः । पृष्टिषु पार्श्वावयवेषु भवम् । अवस्कवम् । अव+स्कुञ् आप्लवने "कृदना"-पचाद्यच् । अवागमनस्वभावम् । अन्तरन्तः प्रविश्य वर्त्तमानम् । व्यध्वरम् । १—उपसर्गादध्वनः । पा० ५ । ४ । ८५ । इति वि+अध्वन्—अच् प्रत्ययः, प्रादिसमासः । रो मत्वर्थीयः । विरुद्धमार्गयुक्तम् । कुपथगामिनम् । २—स्थेशभासपिसकसो वरच् । पा० ३ । २ । १७५ । इति व्यध ताड़ने-वरच् । चितः पा० ६ । १ । १६३ । इति चिति प्रत्यये अन्त उदात्तः । व्याधम् । ताड़कम् । पीडकम् । अथवा । ३-ध्वरति = हन्ति-निघ० २ । १७ । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति घ । वि विरोधे + अध्वर, अहिंसा । अहिंसाविरोधिनम् । हिंसावर्धकम् । शरीरमांसभक्षकम् । अयं शब्दः सर्वत्रान्तोदात्तः । अन्यद् व्याख्यातं म० २ ॥

५—क्रिमयः । म० १ । क्षुद्रजन्तवः । पर्वतेषु । भूमृदृशियजिपर्वि० ।

बनों में, (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में, (पशुषु) गौ आदि पशुओं में और (अप्सु) जल में (अन्तः) भीतर हैं। और (ये) जो (अस्माकम्) हमारे (तन्वम्) शरीर में (आविविशुः) प्रविष्ट हो गये हैं, (क्रिमीणाम्) कृमियों के (तत्) उस (सर्वम्) सब (जनिम) जन्म को (हन्मि) मैं नाश करूं ॥५॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सब स्थानों, सब वस्तुओं और अपने शरीरों को शुद्ध रक्खें कि छोटे बड़े कोई जन्तु क्लेश न देवें, ऐसे ही सब पुरुष आत्म शुद्धि करके अपने भीतरी बाहिरी, छोटे बड़े दोषों को मिटाकर आनन्द से रहें ॥ ५ ॥

सायणभाष्य में (ये) स्थान में [ते] और (तन्वम्) के स्थान में [तन्वः] है ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ३२ ॥

१—६ ॥ आदित्यो देवता । १ गायत्री, २—६ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रिमितुल्यान् दोषान् नाशयेत्, इत्युपदेशः—कीड़ों के समान दोषों का नाश करे, इस का उपदेश ॥

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥

उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे-अतच् । पर्वति पूरयति भूमिमिति । शैलेषु । **वनेषु** । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति वन सम्भक्तौ-घः वन्यते सेव्यते वृक्षैः । बहुवृक्षयुक्तस्थानेषु । अरण्येषु । **ओषधीषु । पशुषु । अप्सु । अन्तः** । व्याख्यातानि—अ० १ । ३० । ३ । **ओषधीषु** । धान्यादिषु । **पशुषु** । गवादिषु । सर्वजीवेषु । **अप्सु** । जलेषु । **अन्तः** । मध्ये । **तन्वम्** । अ० १ । १ । १ । शरीरम् । **आ-विविशुः** । विश प्रवेशे-लिट् । प्रविष्टाः । **सर्वम्** । प्रत्येकम् । **तत्** । पूर्वोक्तम् । **हन्मि** । नाशयामि । **जनिम** । अ० १ । ८ । ४ । उत्पत्तिकारणम् । **क्रिमीणाम्** । कृमीणाम् । कीटानाम् ॥

उत्-यन् । आदित्यः । क्रिमीन् । हन्तु । नि-म्रोचन् । हन्तु । रश्मि-भिः । ये । अन्तः । क्रिमयः । गवि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(उद्यन्) उदय होता हुआ (आदित्यः) प्रकाशमान सूर्य (क्रिमीन्) उन कीड़ों को (हन्तु) मारे, और (निम्रोचन्) अस्त हुआ [भी सूर्य] (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (हन्तु) मारे, (ये) जो (क्रिमयः) कीड़े (गवि) पृथिवी में (अन्तः) भीतर हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—१-प्रातःकाल और सायंकाल में सूर्य की कोमल किरणों और शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु के सेवन से शारीरिक रोग के कीड़ों का नाश होकर मन हृष्ट और शरीर पुष्ट होता है ॥ १ ॥

२—उदय और अस्त होते हुये सूर्य के समान मनुष्य बालपन से बुढ़ापे तक अपने दोषों का नाश करके सदा प्रसन्न रहे ।

टिप्पणी । इस सूक्त और ३३वें सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५. सू० २३ । से करें ॥

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

१-उद्यन् । उत्+इण् गतौ—शतृ । उदयं प्राप्नुवन् । आदित्यः । अ० १ । ९ । १ । आङ्+दीपी दीप्तौ—यक्प्रत्ययान्तो निपातितः । आदीप्यमानः सूर्यः । क्रिमीन् । अ० २ । ३१ । १ । क्षुद्रजन्तून् । हन्तु । नाशयतु । निम्रोचन् । नि+म्रुचु गतौ—शतृ । अस्तं गच्छन् । रश्मिभिः । अश्नोतेरश च । उ० ४ । ४६ । इति अशू व्याप्तौ—मि, धातो रशादेशश्च । किरणैः । अन्तः । मध्ये । क्रिमयः । क्रमणशीलाः क्षुद्रजन्तवः । गवि । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । इति गम्लृ गतौ-डो । गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरङ्गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति गातेर्वौकारो नामकरणः-निरु० २ । ५ । पृथिव्याम् इन्द्रिये वा ॥

विश्व-रूपम् । चतुः-अक्षम् । क्रिमिम् । सारङ्गम् । अर्जुनम् ।
शृणामि । अस्य । पृष्टीः । अपि । वृश्चामि । यत् । शिरः ॥२॥

भाषार्थ—(विश्वरूपम्) नाना आकार वाले (चतुरक्षम्) [चार दिशाओं में] नेत्र वाले, (सारङ्गम्) रींगने वाले [वा चितकबरे] और (अर्जुनम्) संचय शील [वा श्वेत वर्ण] (क्रिमिम्) कीड़े को (शृणामि) मैं मारता हूं, (अस्य) इस की (पृष्टीः) पसलियों को (अपि) भी, और (यत्) जो (शिरः) शिर है [उस को भी] (वृश्चामि) तोड़े डालता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथिवी और अन्तरिक्ष के नाना आकार और नाना वर्ण वाले मकड़ी मांखी आदि क्षुद्र जन्तुओं को शुद्धि आदि द्वारा पृथक् रखने से शरीर स्वस्थ रहता है, इसी प्रकार आत्मिक दोषों की निवृत्ति से आत्मिक शान्ति होती है ॥ २ ॥

टिप्पणी—(चतुरक्ष) चार आंख वाला-ऐसा प्रयोग वेद में अन्यत्र भी आया है, वहां भी चारों दिशाओं का ही ग्रहण है ।

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्चतुरक्ष्याः ॥ १ ॥

अथर्ववेद ४ । २० । ७ । [और ऋ० १० । १४ । १०, ११ भी देखिये ।] तू (कश्यपस्य) सूर्य की और (चतुरक्ष्याः) चार आंख वाली (शुन्याः) व्याप्ति वाली दिशा की (चक्षुः) आंख है ॥

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

विश्वरूपम् । नानाकारम् । **चतुरक्षम्** । बहुव्रीहौ । सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् । पा० ५ । ४ । ११३ । इति षच् । चतुर्नेत्रम् । चतुर्दिक्षु नेत्रयुक्तम् । **सारङ्गम्** । सृवृभ्योर्वृद्धिश्च । उ० १ । १२२ । इति सृ गतौ-अङ्गच्, धातोर्वृद्धिश्च । सरणशीलम् । शबलवर्णम् । **अर्जुनम्** । अर्जेर्णिलुक् च । उ० ३ । ५८ । इति अर्ज सम्पादने-उनन् । संचयशीलम् । श्वेतवर्णम् । **शृणामि** । शॄ हिंसायाम् । हन्मि । **पृष्टीः** । अ० २ । ७ । ५ । पार्श्वस्थीनि । **वृश्चामि** । छिनद्मि । **शिरः** । अ० २ । २५ । २ । मस्तकम् ॥

अत्रि-वत् । वः । क्रिमयः । हन्मि । कण्व-वत् । जमदग्नि-वत् । अगस्त्यस्य । ब्रह्मणा । सम् । पिनष्मि । अहम् । क्रिमीन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(क्रिमयः) हे कीड़ो ! (वः) तुम को (अत्रिवत्) दोष भक्षक, वा गतिशील, मुनि के समान (कण्ववत्) स्तुति योग्य मेधावी पुरुष के समान, (जमदग्निवत्) आहुति खाने वाले अथवा प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्वी पुरुष के समान, (हन्मि) मैं मारता हूं। (अगस्त्यस्य) कुटिल गति पाप के छेदने में समर्थ परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (अहम्) मैं (क्रिमीन्) कीड़ों को (सम् पिनष्मि) पीसे डालता हूं ॥ ३ ४

भावार्थ—मनुष्य को ऋषि, मुनि, धर्मात्माओं के अनुकरण से वेद ज्ञान प्राप्त करके पाप का नाश करना चाहिये ॥ ३ ॥

मन्त्र ३-५ अथर्ववेद का० ५ सू० २३ मन्त्र १०—१२ में भी हैं ॥

३—अत्रिवत् । अदेस्त्रिनिश्च । उ० ४ । ६७ । इति अद भक्षणे अत सातत्यगमने वा-त्रिप् । अत्ति दोषान् भक्षयति नाशयतीति अततीति वा अत्रिः । मुनिः । अथवा । रसान् अत्तीति सूर्यः । तत्सदृशः । वः । युष्मान् । क्रिमयः । हे क्षुद्रजन्तवः । हन्मि । नाशयामि । कण्ववत् अ० २ । २५ । ३ । अशूप्रुषिलटिकणि० । उ० १ । १५१ । इति कण शब्दे, निमीलने-क्वन् । कणति उपदेशशब्दं करोति, कण्यते स्तूयते वा । निमीलयति परान् वा स्वतेजसा । मेधाविवत्-निघ० ३ । १५ । जमदग्निवत् । जमु भक्षणे, दीप्तौ च-शतृ, + अग्नि-वतुप् । जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा-निरु० ७ । २४ । जमन् हुतभक्षणशीलः, अथवा, प्रज्वलितो अग्निरिव तेजो येषां ते जमदग्नयः । तत्सदृशः । अगस्त्यस्य । अग वक्रगतौ-अच् ततः । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति अग + असु क्षेपणे-भावे तिप्रत्ययः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । इति यत् । पृषोदरादित्वाद् दीर्घाभावः । अगस्य कुटिलगतेः पापस्य असने उत्पाटने समर्थस्य परमेश्वरस्य । ब्रह्मणा । अ० १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । सम्+पिनष्मि । अ० २ । ३१ । १ । संचूर्णयामि । अन्यद् गतम् ॥

हुतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हुतो हुतमाता क्रिमिर्हुतभ्राता हुतस्वसा ॥ ४ ॥

हुतः । राजा । क्रिमीणाम् । उत । एषाम् । स्थपतिः । हुतः ।
हुतः । हुत-माता । क्रिमिः । हुत-भ्राता । हुत-स्वसा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन (क्रिमीणाम्) कीड़ों का (राजा) राजा (हतः) नष्ट होवे, (उत) और (स्थपतिः) द्वार पाल (हतः) नष्ट होवे। (हतमाता) जिस की माता नष्ट हो चुकी है, (हतभ्राता) जिसका भ्राता नष्ट हो चुका है और (हतस्वसा) जिस की बहिन नष्ट हो चुकी है, (क्रमिः) वह चढ़ाई करने वाला कीड़ा (हतः) मारडाला जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने दोषों और उन के कारणों को उचित प्रकार के समझकर नष्ट करे, जैसे वैद्य दोषों के प्रधान और गौण कारणों को समझ कर रोग निवृत्ति करता है ॥ ४ ॥

हुतासो अस्य वेशसो हुतासुः परिवेशसः ॥
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हुताः ॥५॥

४—हतः । नाशितः । राजा । अ० १ । १० । १ । अधिपतिः । उत । अपि च । एषाम् । उपस्थितानाम् । स्थपतिः । ष्ठा-कः । स्थः स्थानम् । अमेरतिः । उ० ४ । ५६ । इति पा रक्षणे-अति । अथवा, एयन्तस्य स्था धातोः पुकि-अति प्रत्यये ह्रस्वः । स्थं स्थानं पाति, अथवा पुरुषान् स्थापयतीति स्थपतिः कञ्चुकी, द्वारपालः । हतमाता । हता माता यस्य । नद्यृतश्च । पा० ५ । ४ । १५३ । इति बहुव्रीहौ नित्यं प्राप्तस्य कपः । ऋतश्छन्दसि पा० ५ । ४ । १५८ । इति प्रतिषेधः । नष्टमातृकः । हतभ्राता । पूर्ववत् कपः प्रतिषेधः । नष्टभ्रातृकः । हतस्वसा । पूर्ववत् सिद्धिः । हतस्वसृकः । नष्टभगिनीकः । अन्यद् गतम् ॥

हुतासः । अस्य । वेशसः । हुतासः । परि-वेशसः । अथो इति ।
ये । क्षुल्लकाः-इव । सर्वे । ते । क्रिमयः । हुताः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [क्रिमी] के (वेशसः) मुख्य सेवक (हतासः = हताः) नष्ट हों, और (परिवेशसः) साथी भी (हतासः) नष्ट हों । (अथो = अथ-उ) और भी (ये) जो (क्षुल्लकाः इव) बहुत सूक्ष्म आकार वाले से हैं, (ते) वे (सर्वे) (क्रिमयः) कीड़े (हताः) नष्ट हों ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी स्थूल और सूक्ष्म कुवासनाओं का और उन की सामग्री का सर्वनाश करदे, जैसे रोग जनक जन्तुओं को औषध आदि से नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि ।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

प्र । ते । शृणामि । शृङ्गे इति । याभ्याम् । वि-तुदायसि ।
भिनद्मि । ते । कुषुम्भम् । यः । ते । विष-धानः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (शृङ्गे) दो सींगों को (प्र+शृणामि) मैं तोड़े डालता हूं, (याभ्याम्) जिन दोनों से (वितुदायसि) तू सब ओर टक्कर मारता है । (ते) तेरे (कुषुम्भम्) जल पात्र को (भिनद्मि) तोड़ता हूं (यः) जो (ते) तेरे (विषधानः) विष की थैली है ॥ ६ ॥

५—हतासः । असुक् आगमः । हताः । वेशसः । मिथुनेऽसि । उ० ४ । २२३ । इति बाहुलकाद् अमिथुनेऽपि । विश-असि प्रत्ययः । प्रवेशकाः । मुख्यसेवकाः । परिवेशसः । परितः स्थिताः । अनुचराः । अथो । अपि च क्षुल्लकाः । क्षुद्+लकाः । क्षुदिर संपेषणे-क्विप्+लक आस्वादे, प्राप्तौ-अच् । तोर्लि । पा० ८ । ४ । ६० । इति परसवर्णः । क्षुदं क्षुद्रत्वं लाकयन्ति प्राप्नुवन्ति ते क्षुल्लकाः । सूक्ष्माकाराः क्षुद्रजन्तवः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

६—ते । तव । शृणामि । भिनद्मि । शृंगे । शृणातेर्ह्रस्वश्च । उ० १ । १२६ । इति शॄ हिंसायाम्-गन्, धातो र्ह्रस्वत्वं कित्वं नुद् च प्रत्ययस्य । शृङ्गं श्रय-

भावार्थ—जैसे दुष्ट वृषभ अपने सींगों से अन्य जीवों को सताता है, इसी प्रकार जो क्षुद्र क्रिमियों के समान आत्मदोष दिन रात कष्ट देते हैं, उन को और उनके कारणों को खोजकर नष्ट करना चाहिये ॥ ६ ॥

(कुषम्भम्) के स्थान पर सायण भाष्य में (कुकम्भम्) पद है ।

सूक्तम् ३३ ॥

१-७ ॥ आत्मा देवता । १-६ अनुष्टुप् , ७ पङ्क्तिः ॥

शारीरिकविषये शरीररक्षा-शारीरिक विषय में शरीररक्षा ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१॥

अक्षीभ्याम् । ते । नासिकाभ्याम् । कर्णाभ्याम् । छुबुकात् । अधि । यक्ष्मम् । शीर्षण्यम् । मस्तिष्कात् । जिह्वायाः । वि । वृहामि । ते ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी] (ते) तेरी (अक्षीभ्याम्) दोनों आंखों से, (नासिकाभ्याम्) दोनों नथुनों से (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से, (छुबुकात्=चुबुकात् अधि) ठोड़ी में से, (ते) तेरे (मस्तिष्कात्) भेजे से, और (जिह्वायाः)

तेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा-निरु० २ । ७ । इ विषाणे । वि-तुदायसि । तुद व्यथने-शस्य शायजादेशः । विशेषेण तुदसि । व्यथयसे । भिनद्मि । भिदिर् विदारणे । विदारयामि । कुषुम्भम् । कुसेरुम्भोमेदेताः । उ० ४ । १०६ । इति कुष निष्कर्षे, वा, कुस श्लेषे-उम्भ प्रत्ययः । सकारषकारयोरेकत्वम् । कुसुम्भः=कमण्डलुः, जलपात्रम् । शरीरे जलनाडीविशेषम् । विषधानः । करणाधिकरणयोश्च । पा० ३ । ३ । ११७ । इति विष+डुधाञ् धारणपोषणयोः—अधिकरणे ल्युट् । विषं धीयतेऽत्र । विषस्थानम् ।

१—अक्षीभ्याम् । ई च द्विवचने । पा० ७ । १ । ७७ । इति अक्षि शब्दस्य ईकारादेशः । स चोदात्तः । चक्षुर्भ्याम् । ते । तव । नासिकाभ्याम् ।

जिह्वा से (शीर्षण्यम्) शिर में के (यक्ष्मम्) क्षयी [छयी] रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—१,—इस मन्त्र में शिर के अवयवों का वर्णन है। जैसे सद्वैद्य उत्तम औषधों से रोगों की निवृत्ति करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को विचार पूर्वक नाश करे ॥ १ ॥

२—सायणभाष्य में (छुबुकात्) के स्थान में (चुबकात्) है, और ऋग्वेद में भी (छुबुकात्) पाठ है।

३—इस सूक्त के ७ मन्त्रों के स्थान में ऋग्वेद म० १० सू० १६३ में ६ मन्त्र हैं। मन्त्र ३ का पहिला आधा (हृदयात् ते परि...) और म० ४ का दूसरा आधा (यक्ष्मं कुक्षिभ्यां...) ऋग्वेद में नहीं हैं, शेष मन्त्र कुछ भेद से हैं। ऋग्वेद में इस सूक्त के ऋषि विवृहा काश्यप हैं ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्य१ मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥२॥

ण्वुल् तृचौ। पा० ३। १। १३३। इति णस शब्दे-ण्वुल्। टापि अत इत्वम्। घ्राणछिद्राभ्याम्। **कर्णाभ्याम्**। कृवृजृसि०। उ० ३। १०। इति कॄ शविक्षेपे-नन्। कीर्यते विक्षिप्यते शब्दो वायुना यत्र। श्रवणाभ्याम्। **छुबुकात्**। चलेरूकः। उ० ४। ४०। इति ओछुप स्पर्शे-उक प्रत्ययो बाहुलकात्, पस्य च बः। ओष्ठाधोभागात्। चिबुकात्। **अधि**। पञ्चम्यर्थानुयायी। सर्वथा। **यक्ष्मम्**। अ० २। १०। ५। राजरोगम्। क्षयरोगम्। **शीर्षण्यम्**। शरीरावयवाच्च। पा० ४। ३। १४२। इति शिरस्-यत्। ये च तद्धिते। पा० ६। १। ६१। इति शिरसः शीर्षन् आदेशः। ये चाभावकर्मणोः। पा० ६। ४। १६८। इति प्रकृतिभावः। शिरसि भवम्। **मस्तिष्कात्**। मस्त+इष गतौ-क, पृषोदरादित्वात् साधुः। मस्तं मस्तकम् इष्यति स्वाधारत्वेन प्राप्नोतीति। मस्तकभवघृताकारस्नेहम्। मस्तकस्नेहम्। **जिह्वायाः**। अ० १। १०। ३। रसनायाः सकाशात्। **वि+वृहामि** – वृहू उद्यमने – उद्धरामि। पृथक्करोमि ॥

ग्रीवाभ्यः । ते । उष्णिहाभ्यः । कीकसाभ्यः । अनूक्यात् । यक्ष्मम् । दोषण्यम् । अंसाभ्याम् । बाहु-भ्याम् । वि । वृहामि । ते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (ग्रीवाभ्यः) गले की नाड़ियों से, (उष्णिहाभ्यः) गुद्दी की नाड़ियों से, (कीकसाभ्यः) हँसली की हड्डियों से, (अनूक्यात्) रीढ़ से और (ते) तेरे (अंसाभ्याम्) दोनों कन्धों से, और (ते) तेरे (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से, (दोषण्यम्) मुड्ढे वा बक्खे के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में ग्रीवा के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ म० १ के समान है ॥ २ ॥

२—ग्रीवाभ्यः । शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः । उ० १ । १५४ । इति गॄ निगरणे-वन् धातोर्ग्रीभावः, टाप् । निगलति यया । कन्धरावयवेभ्यः । उष्णिहाभ्याम् । ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगंचुयुजिक्रुञ्चां च । पा० ३ । २ । ५६ । इति उत्+ष्णिह प्रीतौ, स्नेहने-क्विन्, तलोपः षत्वं च, टाप् । उष्णिगेव उष्णिहा । उष्णिगुत्स्नाता भवति स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः । निरु० । ७ । १२। ऊर्ध्वं स्निग्धाभ्यः, रक्तादिना उत्स्नाताभ्यो वा नाडीभ्यः । कीकसाभ्यः । अत्यविचमि० । उ० ३ । ११७ । इति ककि गतौ-असच्, धातोः कीकादेशः । यद्वा । की कुत्सितेन रक्तादिना देहाभ्यन्तरे कसति उत्पद्यते । की+कस गतौ-अच्, टाप् । जत्रुवक्षोगतास्थिभ्यः । अनूक्यात् । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति अनु+उच समवाये अधिकरणे ण्यत् । न्यङ्क्वादीनां च । पा० ७ । ३ । ५३ । इति कुत्वम् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । ८५ । इति स्वरितः । अनुक्रमेण उच्यन्ति समवयन्ति अस्थीनि यत्र । पृष्ठास्थिसकाशात् । यक्ष्मम् । अ० २ । १० । ५ । राजरोगम् । क्षयरोगम । दोषण्यम् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति दोस्-यत् । पद्दन्नः० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दोषन् आदेशः दोष्णोः, भुजदण्डयोर्भवम् । अंसाभ्याम् । अमेः सन् । उ० ५ । २१ । इति । अम गतौ-सन् । स्कन्धाभ्याम् । बाहुभ्याम् । अ० २ । २७ । ३ । भुजाभ्याम् वि+वृहामि । म० १ । उन्मूलयामि ॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥३॥

हृदयात् । ते । परि । क्लोम्नः । हलीक्ष्णात् । पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मम् । मतस्नाभ्याम् । प्लीह्नः । यक्नः । ते । वि । वृहामसि ॥३॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से, (क्लोम्नः) फेफड़े से, (हलीक्ष्णात्) पित्ते से, (पार्श्वाभ्याम् परि) दोनों कांखों [कक्षाओं वा बगलों] से और (ते) तेरे (मतस्नाभ्याम्) दोनों मतस्नों [गुर्दों] से, (प्लीह्नः) प्लीहा, वा पिलई [तिल्ली] से, और (यक्नः) यकृत् [काल खण्ड वा जिगर] से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामसि=०—मः) हम उखाड़े देते हैं ॥३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कन्धों के नीचे के अवयवों का वर्णन है। भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ३॥

३—**हृदयात्** । अ० २ । २९ । ६ । वक्षःस्थमांसपिण्डात् । हृदयलक्षणं, यथा । शोणितकफप्रसादजं हृदयं तदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः । तस्याधोवामतः प्लीहा फुस्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च । इति शब्दकल्पद्रुमे सुश्रुतात् । **क्लोम्नः** । क्लुङ् गतौ मनिन् । फुप्फुसात् । बाह्वोर्द्वयोर्मध्ये वक्षः, तन्मध्ये हृदय तत्पार्श्वे क्लोम पिपासास्थानम् । इति श० क० द्रुमे । **हलीक्ष्णात्** । अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः । इति हल विलेखे-ई । क्षणु तेजने-ड । हलीं विलेखं क्षणोति तेजयतीति । मांसपिण्डविशेषात् पित्तात् । **पार्श्वाभ्याम्** । स्पृशेः श्वणशुनौ पृ च । उ० ५ । २७ । इति स्पृश-श्वण् पृ आदेशश्च । कक्षयोरधोभागाभ्याम् । **मतस्नाभ्याम्** । मत+ष्णिह स्नेहने-ड । मतं ज्ञानं स्नेहयतीति मतस्नम् । उभयपार्श्वसंबन्धाभ्यां वृक्याभ्यां तत्समीपस्थपित्ताधारपात्राभ्यां वा-इति सायणः । ग्रीवाधस्ताद् भागस्थितहृदयोभयपार्श्वस्थे अस्थिनी मतस्ने ताभ्याम् इति महीधरः, शुक्लयजु० २५ । ८ । **प्लीह्नः** । श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्० । उ० १ । १५९ । इति प्लिहङ् गतौ-कनिन् । कुक्षिवामपार्श्वस्थमांसखण्डात् । **यक्नः** । शकेर्ऋतिन् । उ० ४ । ५८ । इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-ऋतिन् । जस्य कः । यजति संगच्छते यकृत् । पद्दन्नः० । पा० ६ । १ । ६३ इति यकन् आदेशः । कुक्षेर्दक्षिणभागस्थमांसखण्डात् । कालखण्डात् । अन्यद् गतम् ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

आन्त्रेभ्यः । ते । गुदाभ्यः । वनिष्ठोः । उदरात् । अधि ।
यक्ष्मम् । कुक्षि-भ्याम् । प्लाशेः । नाभ्याः । वि । वृहामि । ते ॥४॥

भाषार्थ—(ते) तेरी (आन्त्रेभ्यः) आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदा की नाड़ियों से, (वनिष्ठोः) वनिष्ठु [ओझरी मलस्थान] से, (उदरात् अधि) उदर में से, और (ते) तेरी (कुक्षिभ्याम्) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) कोख में की थैली से, और (नाभ्याः) नाभि से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उदर के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ४ ॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं १ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

४—आन्त्रेभ्यः । अ० १ । ३ । ६ । अस्जिगमिनमि० । उ० ४ । १६० । इति अति बन्धने-ष्ट्रन् । उदरनाडीविशेषेभ्यः । पुरीतद्भ्यः । **गुदाभ्यः** । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति गुद खेलने-क । टाप् । गोदन्ते खेलति चलति अपानवायुर्यया । मलत्यागनाडीभ्यः । **वनिष्ठोः** । वन संभक्तौ—औणादिक इष्ठुप् प्रत्ययः । स्थूलान्त्रात् । **उदरात्** । उदि दृणातेरलचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च । उ० ५ । १९ । इति उद् + दृ विदारे-अच् । उपसर्गस्य दलोपः । नाभिस्तनयोर्मध्यभागात् । जठरात् । **कुक्षिभ्याम्** । प्लुषिकुषिशुषिभ्यः क्सिः । उ० ३ । १५५ । इति कुष निष्कर्षे-क्सि । दक्षिणोत्तरोदरभागाभ्याम् । **प्लाशेः** । वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति प्र + अश व्याप्तौ-इञ्, रस्य लः । बहुच्छिद्रात् मलपात्रात्-इति सायणः [Mesentery-*Griffith*.] । शिश्नात्, यथा महीधरः-यजु० १९ । ८७ । कुक्षिस्थनाडीविशेषात् । **नाभ्याः** । अ० १ । १३ । २ । उदरावर्तात् । नाभिमण्डलात् । अन्यद् गतम् ॥

ऊ॒रु-भ्याम् । ते॒ । अ॒ष्ठीवत्-भ्याम् । पार्ष्णि-भ्याम् । प्र-पदा-भ्याम् । यक्ष्मम् । भ॒सद्यम् । श्रोणि-भ्याम् । भासदम् । भंससः । वि । वृहामि । ते॒ ॥ ५॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (ऊरुभ्याम्) दोनों जंघाओं से, (अष्ठीवद्भ्याम्) दोनों घुटनों से, (पार्ष्णिभ्याम्) दोनों एड़ियों से, (प्रपदाभ्याम्) दोनों पैरों के पंजों से और (ते) तेरे (श्रोणिभ्याम्) दोनों कूल्हों से [वा नितम्बों से] और (भंससः) गुह्य स्थान से (भसद्यम्) कटि [कमर] के और (भासदम्) गुह्य के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कटि से नीचे के अवयवों का वर्णन है। भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ५ ॥

अ॒स्थिभ्य॑स्ते म॒ज्जभ्यः॒ स्नाव॑भ्यो ध॒मनि॑भ्यः ।
यक्ष्मं॑ पा॒णिभ्या॑म॒ङ्गुलि॑भ्यो न॒खेभ्यो॒ वि वृ॑हामि ते ॥६॥

५-ऊरुभ्याम् । ऊर्णोतेर्नुलोपश्च । उ० १ । ३० । इति ऊर्णु आच्छादने-कु, नुलोपश्च । जानूपरिभागाभ्याम् । जङ्घाभ्याम् । अष्ठीवद्भ्याम् । आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्० । पा० ८ । २ । १२ । इति अस्थि-मतुप्, अष्ठीभावो निपात्यते । जानुभ्याम् । पार्ष्णिभ्याम् । घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । इति पृषु सेके—नि, निपातनात् साधुः । पृष्यते भूम्यादिकमनेनेति । गुल्फस्याधोभागाभ्याम् । पादग्रन्थ्यधराभ्याम् । प्रपदाभ्याम् । प्रारब्धं प्रगतं वा पदमिति प्रादि समासः । पादाग्रभागाभ्याम् । भसद्यम् । शृदृभसोऽदिः । उ० १ । १३० । इति भस दीप्तौ—अदि, यत् । भसत्=जघनं योनिर्वा—श० क० टीका । कटिप्रदेशे भवम् । श्रोणिभ्याम् । वहिश्रिश्रुयु० । उ० ४ । ५१ । इति श्रु गतौ, श्रुतौ—नि । यद्वा, श्रोण संघाते—इन् । कटिभ्याम् । नितम्बाभ्याम् । भासदम् । भसद्—अण् । भसदि, योनौ भवम् । भंससः । भस दीप्तौ—असुन्, नुट् च । भासमानात् पायोः, गुह्यस्थानात् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

अस्थि-भ्यः । ते । मज्ज-भ्यः । स्नाव-भ्यः । धमनि-भ्यः । यक्ष्मम् । पाणि-भ्याम् । अङ्गुलि-भ्यः । नखेभ्यः । वि । वृहामि । ते ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (अस्थिभ्यः) हड्डियों से (मज्जभ्यः) मज्जा धातु [अस्थि के भीतर के रस] से (स्नावभ्यः) पुट्ठों से और (धमनिभ्यः) नाड़ियों से, और (ते) तेरे (पाणिभ्याम्) दोनों हाथों से, (अङ्गुलिभ्यः) अंगुलियों से, और (नखेभ्यः) नखों से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर के भीतरी धातुओं, नाड़ियों और हाथ आदि बाहिरी अंगों को यथा योग्य आहार, विहार से पुष्ट और स्वस्थ रक्खें, जिस से आत्मिक शक्ति सदा बढ़ती रहे ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि । यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥७॥

६-**अस्थिभ्यः** । अ० १ । २३ । ४ । असु क्षेपणे—क्थिन् । शरीरस्थधातुविशेषेभ्यः । **मज्जभ्यः** । अ० १ । ११ । ४ । अस्थिमध्यस्थस्नेहेभ्यः । **स्नावभ्यः** । स्नामदिपद्यर्त्ति० । उ० ४ । ११३ । इति ष्णा शोधने—वनिप् । वायुवाहिनी नाड़ीभ्यः । सूक्ष्मशिराभ्यः । **धमनिभ्यः** । अर्त्तिसृधृधम्यम्य० । उ० २ । १०२ । इति धम प्रापणे-अनि सौत्रो धातुः । धमतिः, गतिकर्मा निघु० २ । १४ । यद्वा ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः-अनि । धमति प्रापयति रसादिकमिति धमनिः । स्थूलनाड़ीभ्यः । **पाणिभ्याम्** । अशिपणाय्योरुडायलुकौ च । उ० ४ । १३३ । इति पणङ् व्यवहारे—इण्, आयलुक् च । हस्ताभ्याम् । **अङ्गुलिभ्यः** । अङ्ग चिह्नयुक्तकरणे—उलिच् । अङ्गुलयः कस्मादग्रगामिन्यो भवन्तीति वाग्रगालिन्यो भवन्तीति वाग्रकारिण्यो भवन्तीति वाङ्कना भवन्तीति वाञ्चना भवन्तीति वापि वाभ्यञ्चनादेव स्युः—निरु० ३ । ८ । हस्तपदप्रसिद्धावयवेभ्यः । **नखेभ्यः** । नहेर्हलोपश्च । उ० ५ । २३ । इति णह बन्धने-ख, हस्य लोपः । नह्यति रुधिरादिकम् । अङ्गुलीकण्टकेभ्यः । अन्यद् गतम् ॥

अङ्गे-अङ्गे । लोम्नि-लोम्नि । यः । ते । पर्वणि-पर्वणि । यक्ष्मम् । त्वचस्यम् । ते । वयम् । कश्यपस्य । वि-बर्हेण । विष्वञ्चम् । वि । वृहामसि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [क्षयी रोग] (ते) तेरे (अङ्गे-अङ्गे) अंग अंग में, (लोम्नि-लोम्नि) रोम रोम में (पर्वणि-पर्वणि) गांठ गांठ में है। (वयम्) हम (ते) तेरे (त्वचस्यम्) त्वचा के और (विष्वञ्चम्) सब अवयवों में व्यापक (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (कश्यपस्य) ज्ञान दृष्टि वाले विद्वान् के (विबर्हेण) विविध उद्यम से (वि वृहामसि) जड़ से उखाड़ते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपसंहार वा समाप्ति है अर्थात् प्रसिद्ध अवयवों का वर्णन करके अन्य सब अवयवों का कथन है। जिस प्रकार सद्वैद्य निदान पूर्वक रोगी के जोड़ जोड़ में से रोग को नाश करता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष निदिध्यासन पूर्वक आत्मिक दोषों को मिटा कर प्रसन्नचित्त होता है ॥ ७ ॥

७—**अङ्गे-अङ्गे** । अ० १।१२।२। नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति सर्वत्र द्विर्वचनम् । सर्वावयवेषु । **लोम्नि-लोम्नि** । नामन् सीमन्व्योमन्-रोमन्लोमन् ० । उ० ४ । १५१ । इति लूञ् छेदे-मनिन् प्रत्ययान्तः साधुः । लूयते छिद्यते शरीरं येन । सर्वेषु रोमकूपेषु । **पर्वणि-पर्वणि** । अ० २ । ६ । १ । सर्वेषु शरीरसन्धिषु । **त्वचस्यम्** । त्वच संवरणे-असुन्, यत् । यचि भम् । पा० १ । ४ । १८ । इति रुत्वाभावः । त्वचि भवम् । **कश्यपस्य** । अ० १ । १४ । ४ । सोमरसपानशीलस्य । यद्वा । कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५ । ३५ । इति दृशिर् प्रेक्षणे-वुन् । पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्ति० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति छन्दसि अशिति प्रत्ययेऽपि, दृशेः पश्य इत्यादेशः, आद्यन्ताक्षरविपर्य्ययेण सिद्धिः। कश्यपस्य पश्यकस्य द्रष्टुर्ज्ञानिनः पुरुषस्य । यथा । "कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति निरुक्त्या पश्यतीति पश्यः सर्वज्ञतया सकलं जगद् विजानाति स पश्यः पश्य एव निर्भ्रमतयातिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातःपश्यक इति । आद्यन्ताक्षरविपर्य्यादिभिः सिंहः कृतेस्तर्कुरित्यादिवत् कश्यप इति हयवरट् इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति"-इतिश्रीदयानन्दकृतायां ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम्, पृष्ठे २६१ तमे । **विबर्हेण** । वृहि वृद्धौ, शब्दे, वृह उद्यमे-ल्युट्, उपसर्गस्यदीर्घः । विविधोद्यमेन । **विष्वञ्चम्** । विष व्याप्तौ-कु +अञ्चु गतौ-क्विन् । नानाङ्गव्यापकम् । अन्यद् गतम् ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१–५ ॥ पशुपतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

बन्धात् मोक्षायोपदेशः—बन्ध से मुक्ति के लिये उपदेश ।

य ईशे॑ पशु॒पति॑: पशू॒नां चतु॑ष्पदामु॒त यो द्वि॒पदा॑म् ।
निष्क्री॑त॒: स य॒ज्ञियं॑ भा॒गमे॑तु रा॒यस्पोषा॒ यज॑मानं सचन्ताम् ॥ १ ॥

यः । ईशे॑ । प॒शु॒ऽपति॑: । प॒शू॒नाम् । चतु॑:ऽपदाम् । उ॒त । यः । द्वि॒ऽपदा॑म् । निःऽक्री॑तः । सः । य॒ज्ञिय॑म् । भा॒गम् । ए॒तु । रा॒यः । पोषा॑: । यज॑मानम् । स॒च॒न्ता॒म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (पशुपतिः) पशुओं [जीवों] का स्वामी परमेश्वर (चतुष्पदाम्) चौपाये, (उत) और (यः) जो (द्विपदाम्) दो पाये (पशूनाम्) जीवों का (ईशे=इष्टे) राजा है । (सः) वह परमेश्वर (निष्क्रीतः) अनुकूल हो

१—ईशे । ईश ऐश्वर्ये । लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । ईष्टे । ईश्वरः स्वामी वर्तते । **पशुपतिः** । अर्जिदृशिकम्यमि० । उ० १ । २७ । इति दृशिर् प्रेक्षणे-कु । पातेर्डतिः । उ० ४ । इति पा रक्षणे-डति । पशूनां दृष्टिवतां दृष्टानां वा स्थावरजङ्गमनानां जीवानां पाता रक्षिता परमेश्वरः । **पशूनाम्** । अ० १ । २५ । २ । जीवानाम् । **चतुष्पदाम्** । संख्यासुपूर्वस्य । पा० ५ । २ । १४० । इति बहुव्रीहिः पादशब्दान्तस्य लोपः । पादः पत् । पा० ६ । ४ । १३० । इति पाद् इत्यस्य पदादेशो भसंज्ञायाम् । गवादीनाम् । **उत** । अपि च । **द्विपदाम्** । पूर्ववत् सिद्धिः । मनुष्यादीनाम् । **निष्क्रीतः** । निः नितराम्+क्रीञ् मूल्यदानेन द्रव्यग्रहणे-क्त । प्रार्थनादिना अनुकूलीकृतः । **यज्ञियम्** । यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ । पा० ५ । १ । ७१ । पूजाकर्मार्हम् । **भागम्** । भज भागसेवयोः-घञ् । अंशम् । भजनम् । **एतु** । गच्छतु । प्राप्नोतु । **रायः** । रातेर्डैः । उ० २ । ६६ ।

कर (यज्ञियम्) हमारे पूजा योग्य (भागम्) भजन वा अंश को (एतु) प्राप्त करे। (रायः) धन की (पोषाः) वृद्धियां (यजमानम्) पूजनीय कर्म करने वाले को (सचन्ताम्) सींचती रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब मनुष्यादि दोपाये, और गौ आदि चौपाये और और सब संसार का स्वामी है, वह मनुष्यों के धर्मानुकूल चलने से उन का (निष्क्रीतः) मोल लिया हुआ अर्थात् उन का इच्छा वर्ती होकर उन को सब प्रकार का आनन्द देता है ॥ १ ॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः। उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥ २ ॥

प्र-मुञ्चन्तः। भुवनस्य। रेतः। गातुम्। धत्त। यजमानाय। देवाः। उप-आकृतम्। शशमानम्। यत्। अस्थात्। प्रियम्। देवानाम्। अपि। एतु। पाथः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् महात्माओ! (भुवनस्य) संसार के (रेतः) बीज [वृद्धि सामर्थ्य] का (प्रमुञ्चन्तः) दान करते हुये तुम, [यजमानाय) पूजनीय कर्म करने वाले पुरुष को (गातुम्) मार्ग (धत्त) दान करो, (यत्) जो (शशमानम्) उछल कर प्राप्त होता हुआ (उपाकृतम्) समीप

इति रा दाने ग्रहणे च-डै। धनस्य। स्वर्णस्य। **पोषाः** । पुष पुष्टौ धृतौ च-घञ्। समृद्धयः। षष्ठ्याः पतिपुत्र०। पा० ८।३।५३। इति (रायस्पोषाः) अत्र सत्वम्। **यजमानम्**। यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-शानच्। यष्टारम्। याजकम। **सचन्ताम्**। षचङ् सेचने-लोट्। सिञ्चन्तु ॥

२—**प्रमुञ्चन्तः**। प्रपूर्वकात् मुच दाने—शतृ। विसृजन्तः। प्रयच्छन्तः। **भुवनस्य**। अ० २।१।३। संसारस्य। **रेतः**। अ० २।२८।५। बीजम्। वृद्धिसामर्थ्यम्। **गातुम्**। कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च। उ० १।७३। इति गाङ् गतौ-तु। गाते गच्छति येन। मार्गम्। **धत्त**। डुधाञ् दत्त। **यजमा-**

लाया गया (पाथः) रक्षा साधन अन्नादि (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियम्) प्रिय [हितकारक] (अस्थात्) स्थित हुआ है, [वह हमें] (अपि) अवश्य (एतु) प्राप्त होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—*विद्वान् महात्मा लोग वेद द्वारा संसार की वृद्धि और स्थिति का कारण विचार कर सब को सत्य मार्ग का उपदेश करें जिस से मनुष्य ईश्वर कृत रक्षा साधन, ज्ञान, खान पान आदि पदार्थों का [जो सब को सब जगह सुलभ हैं] यथावत् प्राप्त कर, दुःखों से मुक्त हो कर आनन्द भोगें ॥ २ ॥*

ये बुध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ ३ ॥

ये । बुध्यमानम् । अनु । दीध्यानाः । अनु-ऐक्षन्त । मनसा । चक्षुषा । च । अग्निः । तान् । अग्रे । प्र । मुमोक्तु । देवः । विश्व-कर्मा । प्र-जया । सम्-रराणः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [*महाविद्वान्*] (*बध्यमानम् अनु*) *बन्धन में पड़ते* हुये [जीव] पर (दीध्यानाः+सन्तः) प्रकाश करते हुये, (मनसा) मन से (च) और (चक्षुषा) नेत्र से (अन्वैक्षन्त दया से देख चुके हैं, (तान्) उन (अग्रे=अग्रे वर्त्तमानान्) अग्रगामियों को (अग्निः) सर्वव्यापक, (देवः) प्रकाश-

---

नाय । म० १ । उपकर्त्रे । **देवाः** । हे विद्वांसः । **उपाकृतम्** । उप+आङ्+कृ—क्त । समीप आनीतम् । **शशमानम्** । शश प्लुतगतौ—चानश् । उत्प्लुत्य गमनशीलम् । **यत्** । पाथः । **अस्थात्** । तिष्ठति स्म । **प्रियम्** । अ० २ । २८ । ५ । हितकरम् । **देवानाम्** । विदुषाम् । **एतु** । अस्मान् प्राप्नोतु । **पाथः** । अन्ने च । उ० ४ । २०५ । इति पा रक्षणे—असुन्, थुट् च । रक्षासाधनम् । अन्नम् ॥

३—**ये** । विद्वांसः । **बध्यमानम्** । सार्वधातुके यक् । पा० ३ । १ । ६७ । इति बन्ध बन्धने-*कर्मणि यक्, ततः शानच् । बन्धने गच्छन्तम्* । **अनु** । अनुलक्ष्य । **दीध्यानाः** । दी धीङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच् । दीप्यमानाः । **अन्वैक्षन्त** । ईक्ष दर्शने-छान्दसो लङ् । अनुकूलम् अनुक्रमेण वा दृष्टवन्तः ।

स्वरूप, (विश्वकर्मा) सब का रचने वाला परमेश्वर, (प्रजया) प्रजा [सृष्टि] के साथ (संरराणः=संरममाणः) आनन्द करता हुआ (प्र) भले प्रकार (मुमोक्तु) [विघ्न से] मुक्त करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो महात्मा अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति से अज्ञान के कारण से दुःख में डूबे हुओं के उद्धार में समर्थ होते हैं, वह सर्वशक्तिमान् सर्वकर्ता परमेश्वर उन परोपकारी जनों का सदा सहायक और आनन्ददायक होता है ॥ ३ ॥

(वध्यमानम्) के स्थान पर (वध्यमानम्) और (अनु दीध्यानाः) दो पद के स्थान पर [अनुदीध्यानाः] एक पद सायण भाष्य में है ॥

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः । वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

ये । ग्राम्याः । पशवः । विश्व-रूपाः । वि-रूपाः । सन्तः । बहु-धा । एक-रूपाः । वायुः । तान् । अग्रे । प्र । मुमोक्तु । देवः । प्रजा-पतिः । प्र-जया । सम्-रराणः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम में बसने वाले, (विश्वरूपाः) सब वर्ण वाले (पशवः) जीव (बहुधा) प्रायः (विरूपाः) पृथक् २ रूप वाले

मनसा । चित्तेन । चक्षुषा । अ० १ । ३३ । ४ । दर्शनेन्द्रियेण । नेत्रेण । अग्निः । सर्वत्रगतिः परमेश्वरः । तान् । विदुषः पुरुषान् । युष्मत्तत्तक्षुःष्वन्तः पादम् । पा० ८ । ३ । १०३ । इति (अग्निष्टान्) इत्यत्र षत्वम् । अग्रे । अग्रे वर्त्तमानान् । प्र । प्रकर्षेण । मुमोक्तु । छन्दसि शपः श्लुः । मोचयतु विघ्नात् । देवः । दीप्यमानः । विश्वकर्मा । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति विश्व+कृञ्-मनिन् । विश्वकर्मा सर्वस्य कर्त्ता [मध्यस्थानः]-निरु० १० । २५ । विश्वेषु कर्म यस्य । सर्वकर्त्ता । परमात्मा । प्रजया । स्वसृष्ट्या । संरराणः । संरममाणः । सहरममाणः । सम्यग्रममाणः । यद्वा । रा दाने, ग्रहणे, रै शब्दे-लिटः कानच् । सम्यग्दाता ग्रहीता शब्दायमानो वा ॥

४—ये । पशवः । ग्राम्याः । ग्रसेरात् च । उ० १ । १४३ । इति ग्रस

(सन्तः) होकर (एकरूपाः) एक स्वभाव वाले हैं, (तान्) उन (अग्रे=अग्रे वर्त्तमानान् पशून्) अग्र वर्त्ती जीवों को (वायुः) सर्वव्यापी वा बलदायक (देवः) प्रकाश स्वरूप, (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर (प्रजया) प्रजा [अपने जनों] से (संरराणः=संरममाणः) आनन्द करता हुआ (प्र) भले प्रकार (मुमोक्तु) मुक्त करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो (ग्राम्याः) मिलकर भोजन करने वाले मनुष्य भिन्न देश, भिन्न अन्न जल वायु होने से भिन्न वर्ण होकर भी एक ईश्वर की आज्ञा पालन में (एकरूप) तत्पर रहते हैं, परमेश्वर प्रसन्न होकर उन पुरुषार्थी महात्माओं को दुःख से छुड़ा कर सदा आनन्द देता है ॥ ४॥

२—शुद्ध वायु सब प्राणियों को शारीरिक और आत्मिक सुख देता है ॥ ४ ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् । दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ५

प्र-जानन्तः । प्रति । गृह्णन्तु । पूर्वे । प्राणम् । अङ्गेभ्यः । परि । आ-चरन्तम् । दिवम् । गच्छ । प्रति । तिष्ठ । शरीरैः । स्वः-गम् । याहि । पथि-भिः । देव-यानैः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रजानन्तः) बड़े ज्ञान वाले (पूर्वे=पूर्वे वर्त्तमानाः+भवन्तः)

भक्ष-भन्, धातोराकारान्तादेशश्च । ग्रसन्ति यत्र मिलित्वा । ग्रामाद् यखञौ ।) पा० ४ । २ । ६४ । ग्रामे शालासमुदाये भवा उत्पन्नाः । ग्रामीणाः । **पशवः** । प्राणिनः । **विश्वरूपाः** । खष्पशिल्पशष्पबाष्परूपपर्पतल्पाः । उ० ३ । २८ । इति रु शब्दे-प, दीर्घश्च । रूयते कीर्त्यते तद् रूपम् । शुक्लादिवर्णम् । आकृतिः । स्वभावः । सौन्दर्यम् । नानावर्णाः । **विरूपाः** । विरुद्धाकाराः । **सन्तः** । वर्त्तमाना अपि । **बहुधा** । विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले । पा० ५ । ४ । २० । इति बहु+धा । बहुप्रकारम् । प्रायेण । **एकरूपाः** । परमेश्वराज्ञापालन एकस्वभावाः । **वायुः** । अ० २ । २० । १ । सर्वव्यापी । परमेश्वरः पवनः । **प्रजापतिः** । यज्ञः-निघ० ३ । १८ । प्रजानां पाता वा पालयिता वा [मध्यस्थानो देवः] निरु० १० । ४२ । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—**प्रजानन्तः** । प्र+ज्ञा-शतृ । प्रकर्षेण जानन्तः । महाविद्वांसः ।

प्रथम स्थान में वर्त्तमान महात्मा पुरुष आप (अङ्गेभ्यः) सब के अङ्गों के हित के लिये (परि) सब ओर (आचरन्तम्) चलने वाले (प्राणम्) अपने प्राण [बल] को (प्रति) प्रत्यक्ष (गृह्णन्तु) ग्रहण करें।

[हे मनुष्य !] (दिवम्) ज्ञान प्रकाश वा व्यवहार को (गच्छ) प्राप्त कर, (शरीरैः) सब अङ्गों के साथ (प्रति तिष्ठ) तू प्रतिष्ठित रह, (देवयानैः) देवताओं के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (स्वर्गम्) स्वर्ग [महा आनन्द] में (याहि) तू पहुंच ॥ ५ ॥

भावार्थ—ज्ञानी महात्मा पुरुष जो श्वास लें वह संसार के उपकार के लिये ही लें, अर्थात् प्रतिक्षण परोपकार में लगकर अपना सामर्थ्य और जीवन बढ़ावें। और प्रत्येक मनुष्य को योग्य है कि अपने आत्मा में ज्ञान का प्रकाश करके सब व्यवहारों में चतुर हो, और आंख, कान, हाथ, पग आदि अङ्गों से शुभ कर्म करके प्रतिष्ठा बढ़ावे, और जिन वेद मार्गों पर देवता चलकर स्वर्ग भोगते हैं उन्हीं वेदरूपी राजपथों पर चल कर जीवन्मुक्त होकर आनन्द भोगे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—स्वर्ग का लक्षण टिप्पणी, अ० १। ३०। २ में अथर्व० का० ६। सू० १२० म० ३ के प्रमाण से दिया है, वहां देख लीजिये ॥

प्रति। प्रत्यक्षम्। **गृह्णन्तु**। स्वीकुर्वन्तु। **पूर्वे**। प्रतिष्ठास्थाने वर्त्तमानाः। प्रधानाः। **प्राणम्**। अ० २। १५। १। जीवनसाधनं प्राणापानरूपं बलम्। **अङ्गेभ्यः**। अ० १। १२। ४। अङ्गानां हिताय। **परि**। सर्वतः। **आचरन्तम्**। चर-शतृ। आगच्छन्तम्। **दिवम्**। अ० १। ३०। ३। प्रकाशम्। **शरीरैः**। अ० २। १२। ८। शरीराङ्गैः सह। **स्वर्गम्**। स्वः-इति व्याख्यातम् अ० २। ५। २। स्वः सुखं गीयते यत्र, स्वः+गै-क। यद्वा, सुष्ठु अर्ज्यते, सु+अर्ज अर्जने-घञ्। शङ्कादित्वात् कुत्वम्। देवतानां विदुषां निवासस्थानम्। स्वर्लक्षणं द्रष्टव्यम्-टिप्पण्याम्। अ० १। ३०। २। **पथिभिः**। पतस्थ च। उ० ४। १२। इति पत्लृ गतौ-इनि, थश्चान्तादेशः। मार्गैः। **देवयानैः**। देव+या गतौ-ल्युट्। देवानां यानं गमनं यैः। देवगमनयोग्यैः ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-५ ॥ विश्वकर्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पापत्यागात् सुखलाभ इत्युपदिश्यते-पाप के त्याग से सुखलाभ है, इस का उपदेश ॥

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः । या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥ १ ॥

ये । भक्षयन्तः । न । वसूनि । आनृधुः । यान् । अग्नयः । अनु-अतप्यन्त । धिष्ण्याः । या । तेषाम् । अव-याः । दुः-इष्टिः । सु-इष्टिम् । नः । ताम् । कृणवत् । विश्व-कर्मा ॥१॥

भाषार्थ—(ये) जिन मनुष्यों ने (भक्षयन्तः) पेट भरते हुए (वसूनि) धनों को (न) नहीं (आनृधुः) बढ़ाया, और (यान्) जिन पर (धिष्ण्याः) बोलने, वा कर्म वा बुद्धि में चतुर (अग्नयः) गतिशील ज्ञानी [वा अग्नि समान तेजस्वी] पुरुषों ने (अन्वतप्यन्त) अनुताप किया है [शोक माना है], (तेषाम्) उन [कंजूसों] की (या) जो (अवयाः) विनाश हेतु (दुरिष्टिः) खोटी सङ्गति है,

१—भक्षयन्तः । भक्ष-शतृ । भक्षकाः । उदरपोषकाः । न । निषेधे । वसूनि । धनानि । आनृधुः । ऋधु वृद्धौ-लिट् । अत आदेः । पा० ७।४।७० । इत्यभ्यासदीर्घत्वे । तस्मान् नुड् द्विहलः । पा० ७ । ४ । ७१ । इति नुडागमः । वर्धितवन्तः । यान् । स्वार्थिनः पुरुषान् । अग्नयः । अगि गतौ- नि । गतिशीलाः । ज्ञानिनः । अग्निवत्तेजस्विनः पुरुषाः । अन्वतप्यन्त । अनुतापं पश्चात्तापं कृतवन्तः । धिष्ण्याः । सानसिवर्णसिपर्णसि०।उ० ४। १०७। इति धिष शब्दे-ण्य प्रत्ययः।शब्दकुशलाः। विद्वांसः। यद्वा। धीङ् आधारे, ध्यै चिन्तने-क्विप् । धीः, कर्मनाम-निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम-निघ० ३ । ९ । इष इच्छायाम्-ण्यप्रत्ययः पूर्ववत्, निपातनाद् रूपसिद्धः । धियः कर्माणि प्रज्ञा वा इच्छन्ति ते धिष्ण्याः । कर्मकुशलाः । धीराः । अवयाः । अवे यजः । पा० ३ । २ । ७२ । अव+यज-ण्विन् । अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च । पा० ८।२।६७। इति निपातितः।

(विश्वकर्मा) सब कर्मों में चतुर [वा संसार का रचने वाला] परमेश्वर (ताम्) उस [कुसंगति] को (नः) हमारे लिये (स्विष्टिम्) उत्तम फलदायक (कृणवत्) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो स्वार्थी मनुष्य केवल अपना पेट भरना जानते हैं और जो धन एकत्र करके उपकार नहीं करते, उन की दशा उदारशील महात्माओं को शोचनीय होती है, सब कर्मकुशल [परमेश्वर] सुमति दे कि उन का मन स्वार्थपन छोड़ कर जगत् की भलाई में लगे। सब मनुष्य (विश्वकर्मा) विहित कर्मों में कुशल होकर, और कुसंगति का दुष्ट फल देखकर दुष्कर्मों से बचें और सदा आनन्द से रहें ॥ १ ॥

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्। मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥ २ ॥

यज्ञ-पतिम्। ऋषयः। एनसा। आहुः। निः-भक्तम्। प्र-जाः। अनु-तप्यमानम्। मथव्यान्। स्तोकान्। अप। यान्। रराध। सम्। नः। तेभिः। सृजतु। विश्व-कर्मा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ऋषयः) सूक्ष्मदर्शी ऋषि (प्रजाः) मनुष्यादि प्रजाओं पर (अनुतप्यमानम्) अनुताप [अनुकम्पा] करने वाले (यज्ञपतिम्) उत्तम कर्मों के रक्षक पुरुष को (एनसा) पाप से (निर्भक्तम्) पृथक किया हुआ (आहुः) बताते हैं।

अवयजामहे=विनाशयामः-इति महीधरः, यजु० ३। ४५। विनाशहेतुः। **दुरिष्टिः**। दुर्+इष वाञ्छे, यज यागे वा-क्तिन्। दुष्टक्रिया। कुसंगतिः। **स्विष्टिम्**। सु+इष्टिम्। शोभनाम् इष्टसाधिकाम्। नः। अस्मदर्थम्। **कृणवत्**। अ० २। ६। ५। करोतु। **विश्वकर्मा**। अ० २। ३४। ३। सर्वकर्ता परमेश्वरः॥

२—**यज्ञपतिम्**। शुभकर्मरक्षकम्। **ऋषयः**। अ० २। ६। १। मन्त्रार्थद्रष्टारः। सूक्ष्मदर्शिनः। **एनसा**। अ० २। १०। ८। पापेन। अपराधेन। **आहुः**। ब्रूञ् कथने-लट्। ब्रुवन्ति। **निर्भक्तम्**। भज सेवायाम्, विभागे-क्त।

उस ने (यान्) जिन (मथव्यान्) मथने योग्य (स्तोकान्) प्रसन्न करने वाले, सूक्ष्म विषयों को (अप) आनन्द से (रराध) सिद्ध किया है (विश्वकर्मा) संसार का रचने वाला परमेश्वर (तेभिः=तैः) उन [सूक्ष्म विषयों] के साथ (नः) हमें (सं सृजतु) संयुक्त करे ॥ २ ॥

भावार्थ—ऋषि लोग उस पुरुषार्थी पुरुष को निष्पाप और पुण्यात्मा मानते हैं जो सब जीवों पर दया और उपकार करता है वही धर्मात्मा आप्तपुरुष, सत्य सिद्धान्तों को साक्षात् करके आनन्द से संसार में प्रकाशित करता है। (विश्वकर्मा) परमेश्वर उन अटल वैदिक धर्मों को हम सब के हृदय में स्थापित करे, जिस से हम पुरुषार्थ पूर्वक सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

टिप्पणी—(अनुतप्यमानम्) के स्थान पर [अनु तप्यमानम्] दो पद और (मथव्यान्) के स्थान पर [मथव्यान्] पद सायणभाष्य में हैं ॥

अ॒दा॒न्या॒न्त्सो॑म॒पान् मन्य॑मानो य॒ज्ञस्य॑ वि॒द्वान्त्स॑म॒ये न धीरः॑। यदे॒नश्च॑कृ॒वान् ब॒द्ध ए॒ष तं वि॑श्वकर्म॒न् प्र मु॑ञ्चा स्व॒स्तये॑ ॥ ३ ॥

अ॒दा॒न्या॒न्। सो॒म॒-पा॒न्। मन्य॑मानः। य॒ज्ञस्य॑। वि॒द्वान्। स॒म्-अ॒ये। न। धीरः॑। यत्। एनः॑। च॒कृ॒वान्। ब॒द्धः। ए॒षः। तम्। वि॒श्व॒क॒र्म॒न्। प्र। मु॒ञ्च॒। स्व॒स्तये॑ ॥ ३ ॥

भषार्थ—(अदान्यान्) दान के अयोग्य पुरुषों को (सोमपान्) अमृत पान

पृथक् कृतम्। वियुक्तम्। **प्रजाः**। ईश्वरसृष्टीः। **अनुतप्यमानम्**। अनुतापं पश्चात्तापं कुर्वन्तम्। **मथव्यान्**। मथ विलोडने-तव्यत्, छान्दसं रूपम्। मथितव्यान्। अन्वेषणीयान्। **स्तोकान्**। ष्टुच प्रसादे दीप्तौ-घञ्। प्रसन्नकरान्, दीप्यमनान् सूक्ष्मविषयान्। बिन्दून्। **अप**। आनन्दे-यथा। अपचितिः=पूजा, अपदानम्=प्रशस्यकर्म। **रराध**। राध संसिद्धौ—लिट्। साधितवान्, पूरितवान्। **नः**। अस्मान्। **तैः**। स्तोकैः। **संसृजतु**। संयोजयतु। **विश्वकर्मा**। सर्वरचयिता। अन्यद् गतम् ॥

३—**अदान्यान्**। छन्दसि च। पा० ५। १। ६७। इति अदान-य प्रत्ययः।

करने वाले (मन्यमानः) मानता हुआ पुरुष, (यज्ञस्य) शुभ कर्म का (विद्वान्) जानने वाला और (समये) समय पर (धीरः) धीर (न) नहीं होता । (एषः) इस पुरुष ने (बद्धः) [अज्ञान में] बन्ध होकर (यत्) जो (एनः) पाप (चकृवान्) किया है, (विश्वकर्मन्) हे संसार के रचने वाले परमेश्वर ! (तम्) उस पुरुष को (स्वस्तये) आनन्द भोगने के लिये (प्र मुञ्च) मुक्त कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अविवेक के कारण मूढ़ होकर अपनी और संसार की हानि कर डालता है। वह पुरुष अपने प्रमाद पर पश्चात्ताप करके और पाप कर्म छोड़कर ईश्वर आज्ञा का पालन करके आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् । बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्य१स्मान् ॥ ४ ॥

दानानर्हान् । **सोमपान्** । गापोष्टक् च । पा० ३ । २ । ८ । सोम + पा पाने-ठक् । अमृतपानशीलान् पण्डितान् । **मन्यमानः** । मन बोधे दिवादिः—शानच् । जानन् सन् । **यज्ञस्य** । अ० १ । ६ । ४ । प्रशस्यकर्मणः । **विद्वान्** । विदेः शतुर्वसुः । पा० ७ । १ । ३६ । इति विद ज्ञाने-शतृ, वसुरादेशः । प्राज्ञः । पण्डितः । **समये** । सम् + इण् गतौ-पचाद्यच् । उचितकाले, अवसरे । **न** । निषेधे । **धीरः** । सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । इति धाञ् धारण-पोषणयोः-क्रन् । घुमास्थागापा० । पा० ६ । ४ । ६६ । इति ईत्वम् । यद्वा । धीः प्रज्ञा कर्म वा, रो मत्वर्थीयः । यद्वा । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति धी + ईर प्रेरणे-अण् । धियम् ईरयतीति । यद्वा । धी + रा-क । धियं राति ददाति गृह्णातीति वा । मेधावी-निघ० ३ । १५ । धैर्यवान् । पण्डितः । **एनः** । म० २ । अपराधम् । **चकृवान्** । कृञ्-लिटः क्वसुः । कृतवान् । **बद्धः** । बध्यते स्म । बन्ध-क्त । बन्धनयुक्तः । **विश्वकर्मन्** । हे सर्वकृत् । **प्र+मुञ्च** । प्रमोचय । **स्वस्तये** । अ० १ । ३० । २ । क्षेमाय । कुशलाय ॥

घोराः । ऋषयः । नमः । अस्तु । एभ्यः । चक्षुः । यत् । एषाम् । मनसः । च । सत्यम् । बृहस्पतये । महिष । द्यु-मत् नमः । विश्व-कर्मन् । नमः । ते । पाहि । अस्मान् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ऋषयः) सूक्ष्मदर्शी पुरुष (घोराः) [पाप कर्मों पर] क्रूर होते हैं, (एभ्यः) उन [ऋषियों] को (नमः) अन्न वा नमस्कार (अस्तु) होवे, (यत्) क्योंकि (एषाम्) उन [ऋषियों] के (मनसः) मन की (चक्षुः) आंख (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ [देखने वाली] है। (महिष) हे पूजनीय परमेश्वर ! (बृहस्पतये) सब बड़े बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी [आप] को (द्युमत्) स्पष्ट (नमः) नमस्कार है, (विश्वकर्मन्) हे संसार के रचने वाले ! (नमस्ते) तेरे लिये नमस्कार है, (अस्मान्) हमारी (पाहि) रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिन महात्मा आप्त ऋषियों के मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म, संसार को दुःख से मुक्त करने के लिये होते हैं, उन के उपदेशों को सब मनुष्य प्रीति पूर्वक ग्रहण करें, और जो परमेश्वर समस्त सृष्टि का कर्त्ता धर्त्ता है,

---

४—घोराः । अ० १ । १८ । ३ । हन—अच्, घुरादेशः । यद्वा । घुर ध्वनौ, भीमभवने-अच् । भयानकाः । भीमाः । ऋषयः । म० २ । मुनयः । आप्तपुरुषाः । नमः । अ० १ । १० । २ । णमु शब्दनत्योः असुन् अन्नम्—निघ० २ । ७ । सत्कारः । अस्तु । भवतु । एभ्यः । ऋषिभ्यः । चक्षुः । अ० १ । ३३ । ४ दृष्टिः । नेत्रम् । एषाम् । ऋषीणाम् । मनसः । अ० १ । १ । २ । अन्तः करणस्य । सत्यम् । अ० २ । १४ । ४ । तथ्यम् । यथार्थम् । बृहस्पतये । अ० १ । ८ । २ । बृहतां महतां लोकानां पत्ये स्वामिने । महिष । अविमह्योष्टिषच् । उ० १ । ४४ । इति मह पूजायाम्-टिषच् । महिषाः=महान्तः—निरु० ७ । २६ । मह्यते पूज्यते सर्वैः, यद्वा, महति पूजयति शुभगुणानिति । हे महन्-निघ० ३ । ३ । पूजनीय । द्युमत् । सम्पदादित्वात् क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ६४ । इति द्यु अभिगमने, यद्वा, द्युत दीप्तौ—क्विप् । मतुपि तलोपः पृषोदरादित्वात्, पा० ६ । ३ । १०६ । यद्वा, दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिकान्तिगतिषु-विच ।

उस के उपकारों को हृदय में धारण करके उस की उपासना करें और सदा पुरुषार्थ करके श्रेष्ठों की रक्षा करते रहें ॥ ४ ॥

(महिष) के स्थान पर सायण भाष्य में [महि सत्] दो पद हैं ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि । इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

यज्ञस्य । चक्षुः । प्र-भृतिः । मुखम् । च । वाचा । श्रोत्रेण । मनसा । जुहोमि । इमम् । यज्ञम् । वि-ततम् । विश्व-कर्मणा आ । देवाः । यन्तु । सु-मनस्यमानाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[जो पुरुष] (यज्ञस्य) पूजनीय कर्म का (चक्षुः) नेत्र [नेत्र समान प्रदर्शक], (प्रभृतिः) पुष्टि, (च) और (मुखम्) मुख [समान मुख्य] है, [उस को] (वाचा) वाणी से, (श्रोत्रेण) कान से और (मनसा) मन से (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं। (सुमनस्यमानाः) शुभ चिन्तकों के जैसे आचरण वाले (देवाः) व्यवहारकुशल महात्मा (विश्वकर्मणा) संसार के रचने वाले परमेश्वर करके (विततम्) फैलाये हुये (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय धर्म को (आ यन्तु) प्राप्त करें ॥ ५ ॥

द्योतनं दिव् । दिव उत् । पा० ६ । १ । १३१ । इति मतुपि उत्वम् । दीप्तिमत् । कान्तियुक्तम् । स्पष्टम् । नमः । सत्कारः । विश्वकर्मन् । म० १ । हे सर्वजनक परमात्मन् । पाहि । त्वं रक्ष । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—यज्ञस्य । म० ३ । पूजनीयकर्मणः । चक्षुः । म० ४ । नेत्रवत् प्रदर्शको यः पुरुषोऽस्ति । प्रभृतिः । डुभृञ् भरणपोषणयोः—क्तिन् । भरणम् । पोषणम् मुखम् । डित् खनेर्मुट् चोदात्तः । उ० ५ । २० । इति खन विदारणे-अच् । स च डित्, धातोर्मुडागमश्च । तस्योदात्तः । खनति अन्नादिकमनेनेति । आस्यम् । मुखमिव मुख्यः । वाचा । अ० १ । १ । १ । वाण्या । पठनपाठनकर्मणा । श्रोत्रेण । अ० २ । १७ । ५ । श्रुत्या । कर्णेन । श्रवणश्रावणकर्मणा ।

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सत्य सङ्कल्पी, सत्यसन्ध, ऋषि महात्माओं के वैदिक उपदेश को वाणी से पठन पाठन, श्रोत्र से श्रवण श्रावण, और मन से निदिध्यासन अर्थात् वारम्वार विचार, करके ग्रहण करें। और सब अनुग्रहशील महात्मा परमेश्वर के दिये हुये विज्ञान और धर्म का प्रचार करते रहें ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१—८ अग्निर्देवता । १, ३, ४ त्रिष्टुप्, २, ५, ६, ७ अनुष्टुप्, ८ गायत्री ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाह संस्कार का उपदेश ॥

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न । जु॒ष्टा व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑ग- मस्त्व॒स्यै ॥ १ ॥

आ । नः । अग्ने । सु-मतिम् । सम्-भलः । गमेत् । इमाम् । कुमारीम् । सह । नः । भगेन । जुष्टा । वरेषु । समनेषु । वल्गुः । ओषम् । पत्या । सौभगम् । अस्तु । अस्यै ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) अग्निवत् तेजस्वी राजन् (सम्भलः) यथाविधि सम्भाषण वा निरूपण करने वाला वर (इमाम्) इस (सुमतिम्) सुन्दर बुद्धि वाली (कुमारीम्) कुमारी को (नः) हमारे लिये (भगेन सह+वर्त्तमानः

मनसा । मननेन । अन्तःकरणेन । निदिध्यासनेन । जुहोमि । अ० १। १५।१। आददे । स्वीकरोमि तम् । विततम् । तनु विस्तारे—क्त । विस्तृतम्। विश्वकर्मणा । परमात्मना । देवाः । व्यवहारकुशलाः । महात्मानः । यन्तु । प्राप्नुवन्तु । सुमनस्यमानाः । अ० १। ३५ । १ । शोभनं ध्यायन्तः । शुभचिन्तकाः ॥

१—नः । अस्मान् । अग्ने । हे अग्निवत्तेजस्विन् राजन् । सुमतिम् । सु+मन बोधे—क्तिन् । शोभनबुद्धियुक्ताम् । सम्भलः । सम्+भल परि-

सन्) ऐश्वर्य के साथ वर्त्तमान होकर (नः) हम में (आ=आगत्य) आकर (गमेत्) ले जावे। [इयम् कुमारी] [यह कन्या] (वरेषु) वर पक्ष वालों में (जुष्टा) प्रिय और (समनेषु) साधु विचार वालों में (वल्गुः) मनोहर है। (अस्यै) इस [कन्या] के लिये (ओपम्) शीघ्र (पत्या) पति के साथ (सौभगम्) सुहागपन (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—यहां (अग्नि) शब्द राजा के लिये है। माता पिता आदि राजव्यवस्था के अनुसार योग्य आयु में गुणवती कन्या का विवाह गुणवान् वर से करें। जिस से वह कन्या पतिकुल में सब को प्रसन्न रक्खे और आप आनन्द से रहे। इसी आशय को राजप्रकरण में मनु महाराज ने अ० ७। १५२ में वर्णन किया है "[कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्।] कन्याओं के नियम पूर्वक दान [विवाह] का और कुमारों की रक्षा का [राजा चिन्तन करे]"।

(ओपम्) के स्थान पर सायण भाष्य में [ऊषम्] है॥

भाषणहिंसादानेषु निरूपणे च-पचाद्यच्। सम्यग् भलते परिभाषते निरूपयति वा स सम्भलः। यथाविधि परिभाषकः यथाशास्त्रं निरूपकः। **आ+गमेत्**। द्विकर्मकः। आगत्य गमयेत् नयेत्। **इमाम्**। प्रसिद्धाम्। गुणवतीम्। **कुमारीम्**। कुमार क्रीडने-अच्। वयसि प्रथमे। पा० ४। १। २०। इति ङीप्। कन्याम्। **सह**। सहितः। **नः**। अस्मदर्थम् **भगेन**। भजनीयेन गुणेन ऐश्वर्येण। **जुष्टा**। प्रीता सेविता। **वरेषु**। वृञ् वरणे-अप्। यद्वा वर ईप्से-घञ्। श्रेष्ठेषु वरयितृषु, वरपक्षीयेषु। **समनेषु**। सम्+अन जीवने-घञ्। यद्वा। सम्+आङ्+णीञ् प्रापणे-अच्। सम्यग् अनिति आनीयते वा। समानं तुल्यं साधु वा। समानस्य सभावः। मन बोधे-पचाद्यच्। साधुमननयुक्तेषु। **वल्गुः**। बलेर्गुक् च। उ० १। १९। इति वल प्राणने-उप्रत्ययः, गुक् आगमः। रुचिरा। मनोहरा। **ओपम्**। उप दाहे, वधे-घञ्। क्षिप्रम्। निघ० २। १५। **पत्या**। स्वामिना सह। **सौभगम्**। सुभग-अण्। सुभगत्वम्। **अस्यै**। कुमार्यै। अन्यद् गतम्॥

सोमंजुष्टं ब्रह्मंजुष्टमर्यम्णा संभृंतं भगंम् ।
धातुर्देवस्यं सत्येनं कृणोमि पतिवेदंनम् ॥ २ ॥

सोमं-जुष्टम् । ब्रह्मं-जुष्टम् । अर्यम्णा । सम्-भृंतम् । भगंम् ।
धातुः । देवस्यं । सत्येनं । कृणोमि । पति-वेदंनम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(धातुः) सब के धारण करने वाले (देवस्य) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर के (सत्येन) सत्य नियम से (सोमजुष्टम्) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के प्रिय, (ब्रह्मजुष्टम्) ब्रह्म ज्ञानी पुरुषों से सेवित और (अर्यम्णा) श्रेष्ठों के मान करने वाले राजा से (संभृतम्) पुष्ट किये हुए (भगम्) सेवनीय वा ऐश्वर्य-युक्त (पतिवेदनम्) पत्नी [वा पति] की प्राप्ति [विवाह] (कृणोमि) मैं करता [वा करती] हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—यह गृहस्थाश्रम ईश्वरकृत नियम है। इस की रक्षा के लिये सब बड़े बड़े महात्मा प्रयत्न करते और राजा नियम बनाते हैं। उस के निर्वाह के लिये माता पिता आदि वर और कन्या को यथावत् उपदेश करें और उन का विवाह करें ॥ २ ॥

२—सोमजुष्टम् । अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १।१४० । इति षु प्रसवैश्वर्ययोः—मन् । जुषी प्रीतिसेवनयोः—क्त । ऐश्वर्यवद्भिः प्रीतम् । ब्रह्मजुष्टम् । बृंहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति बृहि वृद्धौ—मनिन्, नस्य अकारः । ब्रह्मभिः अधीतवेदै-र्ब्राह्मणैर्ब्रह्मज्ञानिभिः सेवितम् । अर्यम्णा । अ० १ । ११ । १ । अर्यमादित्यो ऽरीन् नियच्छति—नि०११।२३ । श्रेष्ठानां मानकर्त्रा, न्यायकारिणा राज्ञा । सम्भृ-तम् । सम्यक् पोषितं वर्धितम् । भगम् । पुंसि संज्ञायाम् घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति भज सेवायाम्—घ । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । २ । ५२ । इति जस्य गः । भजनीयम् । सेवनीयम् । ऐश्वर्ययुक्तम् । धातुः । सर्वस्यधा-रकस्य पोषकस्य । देवस्य । प्रकाशमयस्य परमेश्वरस्य । सत्येन । सते हितम्, सत्—यत् । यथार्थधर्मेण । कृणोमि । करोमि । पतिवेदनम् । विद्लृ लाभे, विद ज्ञाने—ल्युट् । वेदनम्=विवाहः । ज्ञानम । पुमान् स्त्रिया । पा० १ । २ । ६७ । इति पत्नी च पतिश्च पती तयोर्वेदनं लाभं ज्ञानं विवाहं वा ॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति । सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥ ३ ॥

इयम् । अग्ने । नारी । पतिम् । विदेष्ट । सोमः । हि । राजा । सु-भगाम् । कृणोति । सुवाना । पुत्रान् । महिषी । भवाति । गत्वा । पतिम् । सु-भगा । वि । राजतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर! (इयम्) यह (नारी) नर [अपने पति] का हित करने वाली कन्या (पतिम्) पति को (विदेष्ट) प्राप्त करे, (हि) क्योंकि (सोमः) ऐश्वर्यवान् वा चन्द्र समान आनन्द प्रद (राजा) राजा [ऐश्वर्यवान् वर] [इस को] (सुभगाम्) सौभाग्यवती (कृणोति) करता है। [यह कन्या] (पुत्रान्) कुलशोधक वा बहुरक्षक वीर पुत्रों को (सुवाना) उत्पन्न करती हुई (महिषी) पूजनीय महारानी (भवाति) होवे, और (पतिम्) पति को (गत्वा) पाकर (सुभगा) सौभाग्यवती होकर (वि) अनेक प्रकार से (राजतु) राज्य करे॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के अनुग्रह से यह दोनों पति और पत्नी, बड़े ऐश्वर्य वा ठाट वाले राजा और रानी के समान गृह कार्यों को चलावें और वीर पुत्र पौत्र आदिकों को उत्तम शिक्षा देते हुए सदा आनन्द भोगें॥ ३ ॥

३—इयम् । निर्दिष्टा गुणवती । अग्ने । हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर । नारी । अ० १ । ११ । १ नरस्य हिता । कन्या । वधूः । पतिम् । अ० १।१।१। रक्षकम् । यद्वा । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति पत ऐश्वर्ये-इन् । ऐश्वर्यवन्तम् । विदेष्ट । विद्लृ लाभे-आशीर्लिङि छान्दसं रूपम् । वेदिषीष्ट । विन्दताम् । लभताम् । सोमः । अ० १ । ६ । २। ऐश्वर्यवान् । चन्द्रवदानन्दप्रदः । हि । यस्मात् । राजा । अ० १ । १० । १। ऐश्वर्यवान् । प्रतापी । सुभगाम् । सुष्ठु भगं यस्याः । शोभनैश्वर्यवतीम् । पतिप्रियाम् । कृणोति । करोति । सुवाना । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-शानच् । जनयन्ती । पुत्रान् । अ० १ ।

मनु महाराज ने कहा है—अ० ३। ६० ।

संतुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥

भार्या से भर्त्ता और भर्त्ता से भार्या, जिस कुल में संतुष्ट हो, वहां पर अवश्य ही नित्य कल्याण रहता है ॥

यथाखुरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव। एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥ ४ ॥

यथा । आ-खुरः । मघ-वन् । चारुः । एषः । प्रियः । मृगाणाम् । सु-सदाः । बभूव । एव । भगस्य । जुष्टा । इयम् । अस्तु । नारी । सम्-प्रिया । पत्या । अवि-राधयन्ती ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे पूजनीय, वा महाधनी परमेश्वर, (यथा) जैसे (एषः) यह (चारुः) सुन्दर (आखरः) खोह वा मांद (मृगाणाम्) जंगली पशुओं का (प्रियः) प्रिय और (सुषदाः) रमणीक घर (बभूव) हुआ है [होता है], (एव =एवम्) ऐसे ही (इयम्) यह (नारी) नारी (भगस्य) ऐश्वर्यवान् [पति] की (जुष्टा) दुलारी और (संप्रिया) प्रियतमा होकर (पत्या) पति से (अविराधयन्ती) वियोग न करती हुती (अस्तु) रहे ॥ ४ ॥

११ । ५ । कुलशोधकान् बहुरक्षकान् वा वीरान् । महिषी । अ० २ । ३५ । ४ । मह पूजायाम्-टिषच् । टित्वात् ङीप् । पूजनीया । कृताभिषेका राजपत्नी । भवाति । भू-लेट् । भूयात् । गत्वा । प्राप्य । लब्ध्वा । सुभगा । सौभाग्यवती । वि । विशेषेण । राजतु । ईश्वरी तेजस्विनी भवतु ॥

४—यथा । येन प्रकारेण । आखरः । आङ् पूर्वात् खनु अवदारणे-डर प्रत्ययः, डित्वाट् टिलोपः । आखन्यते, आखरः । गर्तः । विलम् । मघवन् । अ० २ । ५ । ७ । हे पूजनीय । हे धनवन् परमेश्वर । चारुः । अ० २ । ५ । १ । शोभनः । मनोज्ञः । प्रियः । प्री-क । हृद्यः । सुखकरः । मृगाणाम् । मृग

भावार्थ—जिस प्रकार आरण्यक नर नारी पशु आनन्द पूर्वक अपने बिलों में विश्राम करते हैं, इसी प्रकार मनुष्यजातीय पति पत्नी परस्पर मिल-जुल कर उपकार करते हुये सदा सुख से रहें ॥ ४ ॥

मनु भगवान ने कहा है—अ० ५ । १४८ ।

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १ ॥

स्त्री बालकपन में पिता के, युवावस्था में पति के, और पति के मरने पर पुत्रों के वश में रहे, स्त्री स्वतन्त्रता का उपभोग न करे ॥

सायणभाष्य में (मघवन्) के स्थान में [मघवान्] और (अविराधयन्ती) के स्थान में [अभिराधयन्ती=अभि वर्धयन्ती, समृद्धा भवन्ती] है ॥

भर्गस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ५ ॥

भगस्य । नावम् । आ । रोह । पूर्णाम् । अनुपदस्वतीम् ।
तया । उप-प्रतारय । यः । वरः । प्रति-काम्यः ॥ ५ ॥

भावार्थ—[हे कन्या !] (भगस्य) ऐश्वर्य की (पूर्णाम्) भरी भरायी और (अनुपदस्वतीम्) अटूट (नावम्) नाव पर (आ रोह) चढ़ । और (तया) उस [नाव] से [अपने वर को] (उप-प्रतारय) आदर पूर्वक पार

अन्वेषणे-इगुपधत्वात् कः । पश्नताम् । सुपदाः । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-असुन् । सुखेन स्थातुं योग्यः । सुखस्थानः । एव । एवम् । तथा । भगस्य । ऐश्वर्यवतः पत्युः । जुष्टा । प्रीता । अस्तु । भवतु । सम्प्रिया । सम्प्रियमाणा । पत्या । भर्त्रा । अविराध्यन्ती । अ+विपूर्वात् राध वियोगे-शतृ, ङीप् । वियोगम् अकुर्वाणा । अन्यद् गतम् ॥

५—भगस्य । भजनीयस्य । ऐश्वर्यस्य । नावम् । ग्लानुदिभ्यां डौः । उ० २ । ६४ । इति णुद प्रेरणे-डौ । नुद्यते जले सा नौः । समुद्रादिसन्तरणार्थयान-विशेषम् । पोतम् । समुद्रयानम् । गृहस्थाश्रमरूपम् । आरोह । अधितिष्ठ आरूढा भव । पूर्णाम् । पृ पूर वा पूर्त्तौ-क्त, तस्य नः । पूरिताम् । कृतपूरणाम् ।

लगा, (यः) जो (वरः) वर (प्रति-काम्यः) प्रतिज्ञा करके चाहने [प्रीति करने] योग्य है ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में गृहपत्नी की भारी उत्तरदातृता [ज़िम्मेदारी] का वर्णन है। जैसे नाविक खान पान आदि आवश्यक सामग्री से लदी लदायी और बड़ी दृढ़ नौका से जल यात्रियों को समुद्र से पार लगाता है, वैसे ही गृहपत्नी अपने घर को धन धान्य आदि ऐश्वर्य से भर पूर और दृढ़ रक्खे और पति को नियम बांधकर पूरे प्रेम से प्रसन्न रखकर गृहस्थाश्रम से पार लगावे ॥ ५ ॥

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु ।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ६ ॥

आ । क्रन्दय । धन-पते । वरम् । आ-मनसम् । कृणु । सर्वम् । प्र-दक्षिणम् । कृणु । यः । वरः । प्रति-काम्यः ॥६॥

भाषार्थ—(धनपते) हे धनों की रक्षा करने वाली [कन्या !] (वरम्) वर को (आ) आदर पूर्वक (क्रन्दय) बुला, और (आमनसम्) अपने मन के अनुकूल (कृणु) कर। [उस वर को] (सर्वम्) सर्वथा (प्रदक्षिणम्) अपनी दाहिनी ओर (कृणु) कर, (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) नियम कर के चाहने योग्य है ॥ ६ ॥

अनुपदस्वतीम् । अनु+उप+दसु उपक्षये-क्विप्। मतुप्, मस्य वः । अखण्डिताम्। अक्षीणाम्। **तया** । नाव्रा। **उपप्रतारय** । उप पूजया शक्त्या वा पारय। **यः** । पूर्वोक्तः। **वरः** । ऋदोरप्। पा० ३।३।५७। इति वृञ् वरणे-अप्। वरणीयः। श्रेष्ठः पतिः। जामाता **प्रतिकाम्यः** । कमु स्पृहि-णिच्, कर्मणि यत् प्रति निश्चयेन प्रतिज्ञया कमनीयः कामनायोग्यः ॥

६—**आ क्रन्दय** । क्रदि आह्वाने। आदरेण आह्वय। **धनपते** । हे धनरक्षिके पत्नि। **वरम्** । वरणीयं पतिम्। **आमनसम्** । मन बोधे-असुन्। अभिमुखमनस्कम्। अनुकूलचित्तम्। **कृणु** । कुरु। **सर्वम्** । सर्वथा। **प्रदक्षिणम्** । द्रुदक्षिभ्यामिनन्। उ० २। ५०। इति दक्ष-ङ् शीघ्रकरणे, वृद्धौ-इनन्। प्रगता दक्षिणा प्रतिष्ठा यस्य तम्। प्रतिष्ठायुक्तम्। प्रवृद्धम्। समर्थम्। प्रतिष्ठापूर्वकं स्वदक्षिणहस्तस्थितम्। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

भावार्थ—पत्नी धनों की रक्षा करती है, वह पति को आदर पूर्वक बुलावे और उस की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता जाने, और सदा उसे अपनी दाहिनी ओर रक्खे, अर्थात् जैसे दाहिना हाथ बायें हाथ की अपेक्षा अधिक सहायक होता है, इसी प्रकार पत्नी अपने पति को सब से अधिक अपना हितकारी जानकर सदा प्रीति से सत्कार मान करती रहे। इसी विधि से पति भी पत्नी को अपना हितकारी जाने, और उस के साथ प्रीति और प्रतिष्ठा के साथ वर्ताव रक्खे ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१—विवाह संस्कार में वर का आसन वधू के दाहिने हाथ को किया जाता है ॥

२—मन्त्र ५ और ६ का आशय मनु महाराज इस प्रकार कहते हैं—अ० ५। १५० ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १ ॥

स्त्री घर के कामों में प्रसन्नचित्त और चतुर होवे, घर की सामग्री, बासन, वस्त्र आदि को संभाल कर रक्खे, और व्यय करने में हाथ संकोचे रक्खे ॥

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

इदम् । हिरण्यम् । गुल्गुलु । अयम् । औक्षः । अथो इति । भगः । एते । पति-भ्यः । त्वाम् । अदुः । प्रति-कामाय । वेत्तवे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (हिरण्यम्) सुवर्ण और (गुल्गुलु) गुल्गुले [गुड़ का पका भोजन] (अथो) और (अयम्) यह (औक्षः) महात्माओं के योग्य [वा ऋषभ

७—इदम्। वराय दातव्यम्। हिरण्यम्। अ० १। ९। २। हञ् हरणे, यद्वा, हर्य गतिकान्त्योः-कन्यन्, हिरादेशश्च। हिरण्यं कस्माद्ध्रियत आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा हितरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः—निरु० २। १०। सुवर्णम्। गुल्गुलु। कादिभ्यः कित्। उ० १। ११५।

औषध सम्बन्धी] (भगः) ऐश्वर्य है [और हे कन्या !] (एते) इन कन्या के पक्ष वालों ने (पतिभ्यः) पति पक्ष वालों के हितार्थ (त्वाम्) तुझे (प्रतिकामाय) प्रतिज्ञा पूर्वक कामना योग्य [पति] के लिये (वेत्तवे) लाभ पहुंचाने को (अदुः) दिया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—कन्या के माता पिता आदि कन्या और वर को विवाह के उपरान्त दाय अर्थात् यौतुक [दैजा, जहेज़] में सुन्दर अलंकार, वस्त्र भोजन पदार्थ वाहन, गौ, धन आदि देवें, और कन्या को पति सेवा की यथा योग्य शिक्षा करें जिस से पति पत्नी मिलकर सदा आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

(गुल्गुलु) पद के स्थान पर सायणभाष्य में [गुग्गुलु] पद है ॥

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः ।
त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

आ । ते । नयतु । सविता । नयतु । पतिः । यः । प्रति-काम्यः । त्वम् । अस्यै । धेहि । ओषधे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे कन्ये] (सविता) सर्व प्रेरक, सर्व जनक परमेश्वर (ते) तेरे लिये [उस पति को] (आ नयतु) मर्यादा पूर्वक चलावे, और (नयतु)

इति गुड् अव्यक्तशब्दे-ड प्रत्ययः, इति गुडः । अकारलोपः । यद्वा गुड वेष्टे, रक्षे-क्विप्, ततो गुड-कु । डलयोरैक्याड् डस्य लत्वम् । गुड एव गुलः । गुडेन इक्षुपाकेन गुडितं वेष्टितं रक्षितं वा गुल्गुलु भोज्यम् । "गुलगुला"-इतिभाषा । **अथो** । अपि च । **औक्षः** । श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति उक्ष सेचने-कनिन् । यद्वा, उक्ष-क । उक्षाः, महन्नाम-निघ० ३ । ३ । उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मण उक्षन्त्युदकेन वा-निरु० १२ । ६ । उक्षा ऋषभौषधिः-श० क० द्रु० । ततः, अण् प्रत्ययः । महतां योग्यः । ऋषभौषधिसंबन्धी । प्रलेपनद्रव्यम्-इति सायणः । **भगः** । भज-घञ् सेवनीयम् । ऐश्वर्यम् । **एते** । कन्यापक्षीयाः । **पतिभ्यः** । वरपक्षीयेभ्यः । तेषां हिताय । **त्वाम्** । कन्याम् । **अदुः** । दाञो लुङ् । दत्तवन्तः । **प्रतिकामाय** । प्रतिज्ञापूर्वकं कामनायोग्याय वराय । **वेत्तवे** । तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ६ । इति विद्लृ लाभे-तवे प्रत्ययः । वेत्तुम् । लब्धुम् ॥

८—**आ** । समन्तात् । अनुकूलम् । **ते** । तुभ्यम् । **नयतु** । णीञ् नयने । प्रेरयतु । नायकं करोतु । **सविता** । अ० १ । १८ । २ । सर्वप्रेरकः । सर्वो पादकः

नायक बनावे, (यः पतिः) जो पति (प्रतिकाम्यः) प्रतिज्ञा पूर्वक चाहने योग्य है। (ओषधे) हे ताप नाशक परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अस्यै) इस [कन्या] के लिये [उस पति को] (धेहि) पुष्ट रख ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह आशीर्वाद का मन्त्र है। पति और पत्नी उस सर्वनियन्ता परमेश्वर का सदा ध्यान करते हुये परस्पर हार्दिक प्रीति रखकर वेदोक्त मर्यादा पर चलें, जिस से वे दोनों प्रधान पुरुष और प्रधान स्त्री होकर संसार में कीर्त्तिमान् होवें, और अन्न आदि ओषधि के समान सुखदायक होकर सदा हृष्ट पुष्ट बने रहें ॥ ८ ॥

यजुर्वेद का वचन है-अ० ४० म० २।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ॅं समाः ॥

मनुष्य (इह) यहां (कर्माणि) वेदोक्त कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीवन की इच्छा करे ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति द्वितीयं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्री **सयाजीरावगयकवाडा**-धिष्ठित बडोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक् सामाथर्ववेद-भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित **क्षेमकरणदास त्रिवेदिना** कृते अथर्ववेदभाष्ये द्वितीयं काण्डं समाप्तम्।

इदं काण्डं प्रयागनगरे वैशाखमासे अक्षयायाम् [शुक्लतृतीयायाम्] १९७० तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-

श्री राजराजेश्वर जार्ज पञ्चम-

महोदयस्य सुसाम्राज्ये

सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—भाद्रकृष्ण जन्माष्टमी संवत् १९७० ता० २५ अगस्त १९१३ ॥

परमेश्वरः। **पतिः** । म० ३ । ऐश्वर्यवान् । भर्त्ता । **प्रतिकाम्यः** । म० ५। प्रतिज्ञया कमनीयः । **अस्यै** । वधूहितार्थम् । **धेहि** । डुधाञ् धारणपोषणयोः-लोट् । धारय । पोषय । वर्धय । **ओषधे** । अ० १ । २३ । १ । हे ताप-भक्षक परमेश्वर ॥

—:o:—

श्रीयुत पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता, वेदाध्यापक काङ्गड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि संपादक आर्यमित्र ८ फ़र्वरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।...आप बहुत दिनों तक सर्कारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ोदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य।

श्रीयुत पण्डित भीमसेन शर्मा—उपनिषद् गीतादिभाष्यकर्त्ता, वदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा फ़र्वरी १९१३॥

अथर्ववेदभाष्य-इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में..... अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है और अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है, तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है॥

श्रीयुत पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़र्वरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्यम्—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और परिश्रम का यह फल है। आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मंत्र, पदपाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलङ्कृत किया है...आप की राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है॥

श्रीयुत पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्त्ति का आरम्भ हो गया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थ युक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देहनिवृत्ति के लिये शब्दार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है.. वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझकर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उस से कार्य्य लिया जा सकता है॥

वावू **कालिका प्रसाद जी** सिल्कमर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी, पत्र संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर साहाय्य करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें।.. आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ अपनी समाधि लगा कर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अंक छपें मेरे पास भेज देना॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda State, letter No. 624 dated 6th February, 1913.

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् at Rs. 1-4-0 per copy. It has been sanctioned for the use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address label "For Encouragement Fund."

हवनमन्त्राः—सम्मतियां।

परिडत **शिवशङ्कर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार—पंजाब आर्य प्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि. सम्पादक आर्यमित्र, आगरा ८ फ़रवरी १९१३। ....आर्य पुरुष हवनकाल में जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उन का सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदी जी ने किया है। प्रत्येक पद का पृथक् पृथक् अर्थ इस में किया गया है। अर्थ के ज्ञान विना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता। अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य ख़रीदना चाहिये॥

सद्धर्म प्रचारक—गुरुकुल कांगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८...आज कल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते। उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १९१२......इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है।

वेदप्रकाश, मेरठ—मई १९१२।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषा में अब तक नहीं था. इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है।

महाशय **खुशीराम जी** गवर्नमेंट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८। —आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है। आप० मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देवें।

रुद्राध्यायः—मूल मात्र, बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य ॥

मिलने का पता—**पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी**

२५ अगस्त १९१३। } ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)।